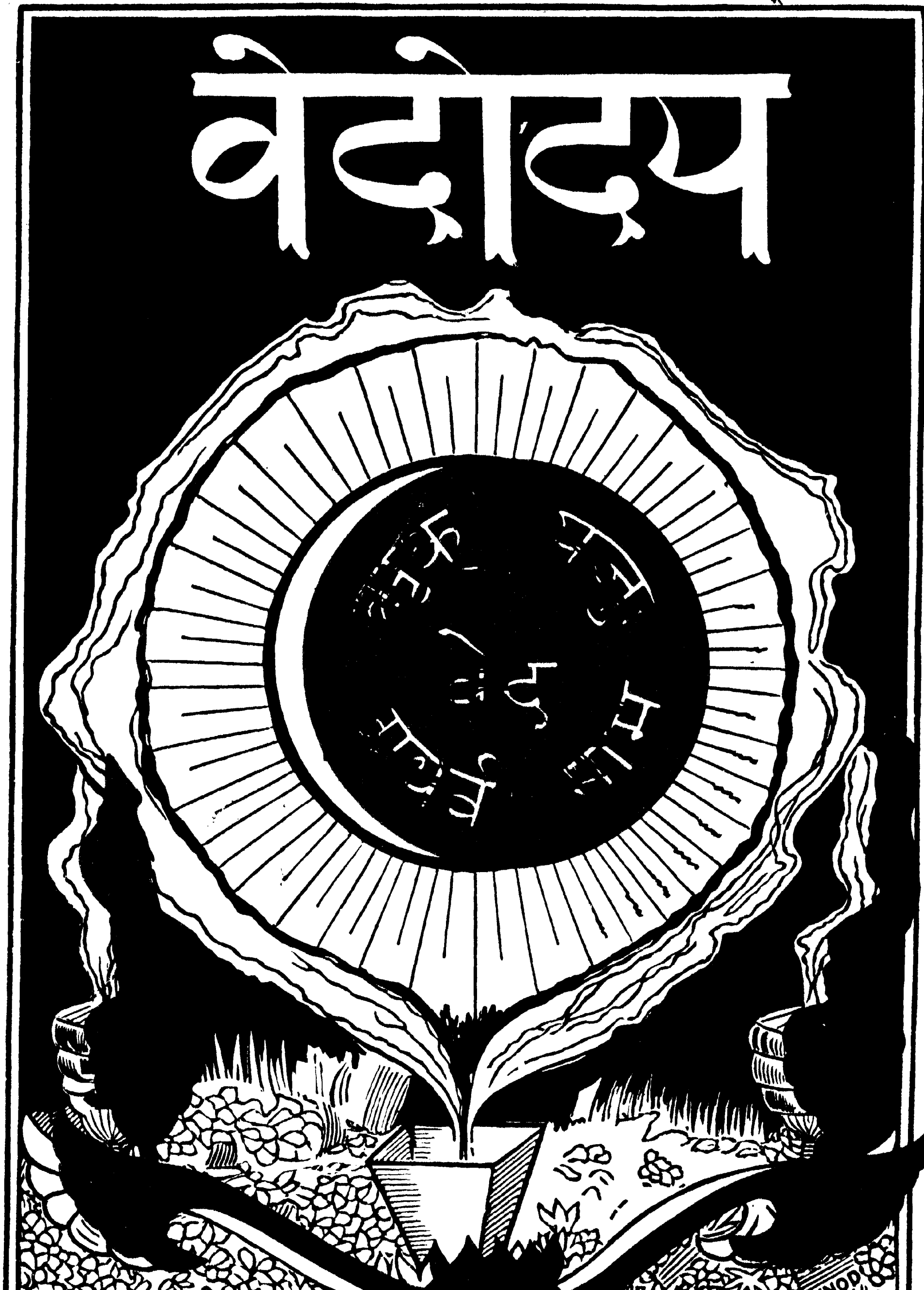
भाग ५] अप्रैल, सन् १९३२ [पूर्ण संख्या २५



सम्पादक

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०

श्री विश्वप्रकाश, बी० ए०, एल-एल०बी०

वार्षिक मूल्य २)

विदेश के लिये २।)

एक प्रति का ।)

विषय-सूची

वेदोदय के नियम

१—"वेदोदय"-प्रत्येक अंग्रेजी महीने की १ तारीख को प्रकाशित होता है।

२—वार्षिक मूल्य मनीआर्डर से २), वी० पी० से २।=), विदेश से २॥), नमूने का अङ्क।) के टिकट आने पर भेजा जाता है।

३—"वेदोदय" का वर्ष चैत्र मास से प्रारम्भ होता है, किन्तु साल के अन्दर किसी भी मास से ग्राहक श्रेणी में नाम लिखाया जा सकता है।

४—पत्र आदि लिखते समय अपना पूरा पता और ग्राहक नम्बर स्पष्ट अक्षरों में लिखना चाहिये। उत्तर के लिये जवाबी कार्ड या टिकट आना चाहिये।

५—यदि ३ मास तक के लिए ही पता बदलवाना हो, तो अपने डाकखाने में ही प्रबंध कर लेना चाहिए। कार्यालय में तभी लिखना चाहिए, जब कि पता अधिक समय के लिए बदलवाना हो।

६—हर एक ग्राहक के नाम वेदोदय बड़ी सावधानी से कईबार जांच कर भेजा जाता है, यदि १५ ता० तक ग्राहक महाशय को पत्र न मिले, तो समझना चाहिए कि किसी सज्जन ने बीच में ही वेदोदय को ग़ायब कर लिया है। ऐसी दशा में पहिले अपने डाकखाने में लिखा-पढ़ी करनी चाहिये और इसपर भी वेदोदय न मिले, तो डाकखाने के जवाब सहित कार्यालय में इसकी सूचना भेजने पर दूसरी प्रति भेज दी जावेगी।

७—लेखों को छापने न छापने या न्यूनाधिक करने का अधिकार सम्पादक को है।



श्री लाला दीवानचन्द जी एम० ए०

आपका सारा त्यागमय जीवन आर्य्य समाज की सेवा में बीता
है। आप डी० ए० वी० कालिज कानपुर के प्रिंसपिल तथा
आगरा विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर हैं।
उच्च समाज में आपके कारण आर्य्य
समाज की ख्याति तथा
गौरव में वृद्धि हो
गई है।

ओ३म्

वेदोदय

पश्चात् प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति विभासति

[अथर्ववेद १३ । ४ । १ । १]

जब वह उदय होता है तो पश्चिम से पूर्व तक सब चीज़ें प्रकाशित हो जाती हैं।

From west to east are lit up all, when he rises & shines.

भाग ५	चैत्र संवत् १९८९, दयानन्दाब्द १०८, अप्रेल १९३२ आर्यसंवत्सर १९७२९४९०३३	संख्या १ पूर्ण सं० २५

भजन

[श्री पं० राजाराम पाण्डेय, 'मधुप']

दर्शन करूँ मैं तेरा कैसे प्रभो बतादे।
साहस को खो चुका हूं आशा तो कुछ बँधा दे॥ १॥
हूँ नीच अति ही स्वामिन्! विद्या विहीन भी हूं।
धर बाँह मेरी भगवन्! आगे को पग बढ़ा दे॥ २॥
मझधार में है नैया; मतिहीन है खेवैया।
कृपा-दृष्टि को बढ़ा के, मुझे पार तो लगा दे॥ ३॥
षट् शत्रु से घिरे हैं; साथी हमारे सारे।
कर रूप ज्ञान अपना, हे ईश्वर! बढ़ा दे॥ ४॥
आँधी प्रचण्ड उद्यत, नौका डुबोने को है।
प्रभु आर्य्य बेरा को तो; अब भी 'मधुप' बना दे॥ ५॥

———

माँस विचार

[पं० गोपीनाथ वैद्य, आर्य्यसमाज, मैनपुरी]

'मांस' एक बड़ा ही विवादास्पद शब्द है। जहां कहीं वैदिक साहित्य में यह शब्द आ जाता है, लोग फ़ौरन यह समझने या समझाने लग जाते हैं कि उक्त साहित्य में पशु-मांस भक्षण विधेय माना गया है और आर्य्य लोग पूर्वकाल में उसको खाते थे। अभी हाल में मैंने श्री मङ्गलानन्द पुरी जी, जो पिछले थोड़े दिनों तक आर्य्य सन्यासी थे और अब आर्य्यसमाज से पृथक् हो गये हैं, की 'वैदिकधर्मी समाज' नामक एक पुस्तक देखी, जिसमें उक्त पुरी जी ने मांस भक्षण के विधान में अथर्ववेद कांड ९ सूक्त ६ मं० ३९ 'एतद्वा उ स्वादीयो अधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात्' का प्रमाण देकर यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि पशु-मांस भक्षण की वेद में स्पष्ट आज्ञा है। उक्त महानुभाव ने मांस-भक्षण के औचित्य में स्वामी हरिप्रसाद जी के स्वाध्याय संहिता नामक ग्रन्थ से उद्धरण प्रस्तुत किया है और श्री चन्द्रमणि विद्यालंकार के वेदार्थ दीपक निरुक्त भाष्य में दी हुई 'मांस' शब्द की व्याख्या को भी अपना समर्थक समझा है।

मुझे दुख के साथ कहना पड़ता है कि श्री पुरी जी ने इस विषय पर स्वयं गम्भीरता से विचार किया प्रतीत नहीं होता और जहां वेदों में इस शब्द का प्रयोग हुआ है वहां से प्रकरणादि का विचार किये बिना ही अपनी सम्मति को सिद्धान्त रूप दे दिया है।

यदि उक्त महानुभाव ने सार्वदेशिक के फर्वरी १९३० वाले अंक में श्री बाबू श्यामसुन्दरलाल जी प्रधान आर्य्यसमाज मैनपुरी का वह लेख विचारपूर्वक देख लिया होता जिसमें उक्त बाबू जी ने स्वामी हरिप्रसाद जी की स्वाध्याय संहिता के उस भाग की विद्वता-पूर्ण समालोचना की है और सिद्ध किया है कि उक्त स्वामी जी का पक्ष सायण के भाष्य और युक्ति प्रमाण दोनों से विरुद्ध और भ्रमपूर्ण है तो शायद आपको अपनी नवीन 'वैदिकधर्मी समाज' पुस्तक में उसका प्रमाण देना उचित प्रतीत न होता।

रही पं० चन्द्रमणि जी के निरुक्त भाष्य की बात सो उसके आशय पर भी आपने सर्वतोभाव से विचार किया नहीं मालूम होता। उक्त विद्यालंकार जी ने जिस दृष्टिकोण से यास्काचार्य के निर्वचन का भाष्य किया है वह यथार्थ ही है; परन्तु उससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि यास्काचार्य के निर्वचन पर

अधिक प्रकाश डालने का द्वार ही बन्द है। इतनी सूचना के अनन्तर मैं अपनी बुद्धि के अनुसार 'मांस' शब्द पर विवेचना करूंगा।

संस्कृत साहित्य में जङ्गम और स्थावर दोनों के शरीरावयवों के लिये समान शब्दों का प्रयोग पाया जाता है अर्थात् अस्थि, त्वचा, स्नायु, वीर्य, रस, रक्त, मज्जा, मेद और मांस शब्द मनुष्य-पशु और वृक्ष-वनस्पति सब के शरीरस्थ पदार्थों के लिये प्रयुक्त हुए हैं। यहां तक कि चेतनों की भांति वृक्ष वनस्पति और उनके फलों तक में शिर, नेत्र, लोम, केशपाद आदि भी माने और कहे जाते हैं।

अपनी उक्त प्रतिज्ञा के पोषणार्थ प्रथम मैं आपटे के संस्कृत अंगरेजी कोष से कतिपय शब्दों को अर्थ सहित उद्धृत करना और तदनन्तर उनका प्रयोग साहित्य में दिखा देना उचित समझता हूं जिनको अधिक देखना हो वह स्वयं उक्त कोष देख सकते हैं।

उक्त आपटे के संस्कृत अंग्रेजी (Apte's Sanskrit English Dictionary) कोष से उद्धृत संस्कृत शब्द और उनके अंग्रेजी अर्थ निम्नांकित हैं :—

अस्थि = (1) A bone ; (2) The kernel or stone of a fruit.

त्वचा = (1) Skin ; (2) Hide ; (3) Bark, Rind ; (4) any cover or coating.

शिरा = (1) Any tabular vessel of the body ; (2) Nerve.
[Note—For the meaning of 'Nerve' see the word below.]

रक्त = (1) Red color ; (2) Blood ; (3) Copper ; (4) Saffron.

[Note—For the meaning of 'Blood' see the word below.]

मज्जा = (1) The marrow of the bones & flesh ; (2) The pith of plants.

मांस = (1) Flesh, meat ; (2) The fleshy part of a fruit.

इसी के साथ मैं नीचे (English Chamber's dictionary) से उक्त संस्कृत शब्दों के अंग्रेजी पर्य्यायों के अर्थ भी दे देना उचित समझता हूं जिससे हमारे अंग्रेजी पढ़े लिखे महानुभाव भी देख सकें कि कोषों में चर और अचर दोनों प्रकार के शारीरिक भागों के लिये उस भाषा में भी समान शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

निम्न विवादास्पद शब्दों के अर्थ दिये जाते हैं :—

1. Skin—(1) The natural outer covering of an animal body. (2) A hide.
   (3) The bark or rind of plants etc.
2. Nerve—(1) Anatomy--one of the fibres which carry sensation from all parts of the body to the brain.
   (2) Botany—one of the fibres in the leaves of plants.
3. Marrow—(1) The soft fatty matter in the cavities of the bones.
   (2) The pith of plants.
4. Blood—(1) The red fluid in the arteries & veins of men' & animals.
   (2) The juice of any thing especially if red.
5. Flesh—(1) the soft substances which covers the bones of animals.
   (2) The soft substance of fruits.
   (3) The soft substance of a fruit fit to be eaten.

ऊपर दिये हुए संस्कृत और अंग्रेजी शब्दों के अर्थों को देखकर, जो कि प्रामाणिक कोषों से नक़ल कर दिये गये हैं, यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, वनस्पति और फलादि सब के शरीरावयवों के समान नाम हैं। अतएव विज्ञ-पाठक देख सकते हैं कि यदि किसी स्थल पर 'मांस' के आने पर कोई महाशय 'पशु-मांस' ही होने का हठ करें तो किस प्रकार सम्भवतः अर्थ का अनर्थ हो सक्ता है।

अब मैं प्रथम इस बात को प्रमाणित करना चाहता हूँ कि वैद्यक शास्त्र में वनस्पति [(स्थावर) जगत Vegetable kingdom] के गूदा आदि अवयवों के लिये वही 'मांस' आदि शब्द प्रयुक्त हैं जो कि जंगम जगत् [Animal kingdom] के शारीरिक अंगों के लिये प्रयुक्त है।

सुप्रसिद्ध सुश्रुत संहिता के शारीर स्थान अध्याय ३ गद्य खंड संख्या ४३ में जहां गर्भ के अंग प्रत्यंग के एक साथ वा आगे पीछे बनने के विषय में वर्णन आया है निम्न कथन मिलता है :—

"तत्तु न सम्यक् । सर्वांग प्रत्यंगानि युगपत्संभवन्तीत्याह धन्वन्तरिगर्भस्य सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते वंशांकुर वच्चूतफलवच्च । तद्यथा चूत फलेऽपरिपक्के केशर मांसास्थि मज्जा न पृथक् दृश्यन्ते । काल प्रकर्षात्तान्येव तरुणे नोपलभ्यन्ते सूक्ष्मत्वात्तेषां सूक्ष्माणां केशरादिनां कालः प्रव्यक्ततां करोति । एतेनैव वंशांकुरोपि व्याख्यातः । एवं गर्भस्य तारुण्ये सर्वेष्वंग प्रत्यंगेषु सत्स्वपि सौक्ष्म्यादनुपलब्धिः तान्येव काल प्रकर्षनात् प्रवक्तानि भवन्ति ।"

अर्थात् गर्भ के भीतर अंग प्रत्यंगों के विषय में जो भिन्न भिन्न समयों में आगे पीछे बनने के विविध मत हैं। वह ठीक नहीं हैं। श्री धन्वन्तरि जी का कथन है कि गर्भ के सूक्ष्म होने के कारण बांस की कोपल वा आम (आम्र फल) की भांति अंग प्रत्यंग पृथक् पृथक् नहीं जाने जाते। अर्थात् जिस प्रकार कच्चे आम के फल में केशर = रेशे, मांस = गूदा, अस्थि = गुठली, तथा मज्जा = उसकी गरी वा मिंगी सूक्ष्म होने से पृथक् पृथक् नहीं मालूम होते और फिर कालान्तर में पक जाने पर वे ही अवयव केशर आदि प्रकट होने लगते हैं और यही बात बांस के अंकुर में भी होती है। इसी प्रकार से छोटेपन में गर्भ के भीतर अंग-प्रत्यंग उपस्थित तो होते हैं परन्तु सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं देते पुनः काल के बढ़ने पर वही स्फुट हो जाते हैं।

(२) पुनः चरक संहिता चिकित्सित स्थान अध्याय २३ छर्दि (वमन) अधिकार में निम्न पाठ देखिये :—

"सितोपला माक्षिक पिप्पिलीभिः
कुल्माष लाजायव सक्तु गृध्नान् ।
खर्जूर मांसानि अथ नारिकेलं
द्राक्षामथो वा बदराणि लिह्यात् ॥
(श्लो० २६)

स्रोतो जलाजोत्पल कोल मज्जा,
चूर्णानि लिह्यान्मधुना भयांच ।
कोलास्थि मज्जाञ्जन मक्षिकाविड्,
लाजा सिता मागधिका कणा च ॥
(श्लो० २७)

उक्त श्लोकों में मोटे अक्षरों वाले शब्दों से स्पष्ट प्रकट है कि खजूर फल के गूदा के लिये 'मांस', बेर की मींग के लिये मज्जा और उसकी गुठली के लिये अस्थि शब्द प्रयुक्त हैं। और देखिये :—

"भल्लातकास्थि अग्नि समं,
त्वङ् मांसं स्वादु शीतलं ॥
(चरक संहिता सूत्र स्थान अध्याय २७
श्लो० १५८)

अर्थात् भिलावे की गुठली = अस्थि बहुत गर्म, त्वचा = बकली, व मांस = गूदा मीठा और ठंडा होता है।

पुनः भाव प्रकाश निघंटु हरीतक्यादि वर्ग में निम्न श्लोक विद्यमान है :—

"पथ्याया मज्जनि स्वादु स्नायौ अम्लो व्यवस्थितः । वृन्ते तिक्तः त्वचि कटुः अस्थ्नि तु तुवरो रसः ।"

जिसकी स्पष्ट टीका यह होती है कि हड़ की मज्जा=मिंगी में मीठापन, स्नायौ=नस के रेशे में खट्टापन, वृन्तः =डण्डी में कडुआपन, त्वचा=बकली में चरपरापन और अस्थ्नि=गुठली में कषैलापन होता है ।

अतएव उपरोक्त उदाहरणों से निश्चयात्मक रूप में सिद्ध है कि संस्कृत भाषा में मांस, मज्जा, अस्थि, त्वचा आदि सभी शब्द स्थावर जगत् के गूदा, मिंगी, गुठली, बकली आदि के लिये स्पष्टतः प्रयुक्त मिलते हैं ।

इसके पश्चात् मैं यास्काचार्य्य के 'मांस' शब्द की निरुक्ति पर विचार करना चाहता हूं । स्नातक श्री चन्द्रमणि विद्यालंकार ने वेदार्थ दीपक निरुक्त भाष्य में मांस को केवल जंगम शरीर के अवयव विशेष को लक्ष्य में रखते हुए यास्क के शब्दों का भाष्य किया है । उन्होंने जिस दृष्टि से उन शब्दों का विचार किया है वह एक पक्ष है और उन्होंने उसका अत्योत्तम रीति से पोषण किया है । परन्तु मैं यहां पर यास्क के उन्हीं शब्दों से उस दूसरे पक्ष की भी सिद्धि करूंगा जिसका पूर्वोक्त संस्कृत तथा अंग्रेजी कोषों और आयुर्वेद शास्त्रों में स्पष्ट प्रमाण मिलता है ।

निरुक्त ४-१-३ में लिखा है :—

मांसं माननं वा मानसं वा मनो अस्मिन् सीदति वा ।

चूँकि कोषों और आयुर्वेद के ग्रन्थों के प्रमाणों से हम यह दिखा चुके हैं कि 'मांस' शब्द से जीव (Animal) शरीर के कोमल भाग और वनस्पति-फल (Vegetable) के कोमल भाग (गूदा) दोनों अपेक्षित हैं अतएव यास्क के शब्दों में हमको यह देखना है कि उनसे भी उक्त दोनों अर्थ प्रकट होते हैं वा नहीं । यास्काचार्य ने प्रथमतः मांस को 'माननं' कहा है । माननं शब्द की सिद्धि (१) (मन्-धञ्) प्रतिष्ठा अर्थ में [देखो आप्टे संस्कृत अङ्गरेजी कोष-शब्द माननं] और (२) बधार्थक णिजन्त 'मन' धातु से स प्रत्यय करने से सिद्ध होते हैं । श्री आपटे ने भी अपने संस्कृत-अंगरेजी कोष में 'माननं' शब्द के उक्त दोनों ही अर्थ स्वीकार करते हुए 'माननं' का अर्थ (1) Honouring; respecting और (२) Killing दिये हैं ।

क्रम संख्या (१) के प्रतिष्ठापरक अर्थ से वृक्ष-वनस्पति फलों के कोमल भाग (गूदा) का भाव सिद्ध होता है क्योंकि प्रत्येक फल के मांस=गूदा से ही उसकी मान-प्रतिष्ठा होती है—विशेष स्वीकरणीय होता है । जैसे आम, पपीता, खरबूजा आदि ।

क्रम संख्या (२) के यथार्थ से 'मांस' का प्राणी के मारने से प्राप्त होना सिद्ध है। द्वितीयत: 'मांस' को यास्क ने 'मानसं' कहा है।

'मानसं' मानस शब्द से बनता है जिसके अर्थ आपटे के उक्त कोष में mind = मन और conscience = विवेक = इष्टानिष्ट विचार शक्ति हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि मांस वह पदार्थ है जिससे मन में इष्ट = भले और अनिष्ट = बुरे भावों का उदय होता है।

(१) फलों के सुन्दर स्वादिष्ट गूदा और दूसरे मनमोहक स्वादिष्ट लाभकारी पदार्थों के देखने तथा ध्यान करने से उनके लिये इष्ट भावना मन में उठती है अतएव मानसं का अर्थ मन: प्रसादक होता है और

(२) 'पशु मांस' के पक्ष में 'मानसं' का अर्थ मन में अनिष्ट = बुरे भावों को उत्पन्न करनेवाला है क्योंकि वह हिंसा से प्राप्त होता है।

तृतीयत: 'मांस' को 'मन: अस्मिन् सीदति' बताया है। सद् धातु के यहां भी दो अर्थ अपेक्षित हैं—(१) बैठना और (२) अवसादित होना। श्री आपटे के संस्कृत-अंग्रेजी कोष में 'सद्' के अर्थ (1) To sit और (2) To be afflicted, pained; (3) To be dejected, sink into despodency हैं।

(१) सद् धातु का 'बैठना' अर्थ लेने पर 'मांस' से तात्पर्य उस पदार्थ से होगा जिसमें मन बैठे या आकर्षित हो। अतएव इस पक्ष में 'मांस' शब्द से सुन्दर स्वादिष्ट फलों का गूदा—गूदेदार फल जैसे आम, अनन्नास, पपीता, खरबूजा, छुहारा, खजूर, किशमिस या अन्य सुन्दर सुवासित मिष्टान्नादि का ग्रहण होगा। (२) सद् धातु का अर्थ 'अवसादित होना' लेने पर 'मांस' से तात्पर्य 'पशु मांस' से होगा जो स्वभावत: मनमें अवसाद, घृणा, दुख क्लान्ति (गिरावट-थकावट) पैदा करता है जो हत्यारूपी क्रूरकर्म से प्राप्त होता है। जिसके देखने मात्र से ही घृणा, उसकी प्राप्ति के साधन पर विचार करने से दु:ख और सेवन से सतोगुण की हानि होकर मानसिक पतन होता है।

उक्त निर्वचनों की व्याख्या पर किन्हीं महानुभावों को यदि सन्देह हो तो वे इसका प्रयोग (Practical experiment) कर सकते हैं वे किसी ईसाई या मुहम्मदी भाई के (मासूम) निष्पाप बच्चे के सामने सुन्दर फल, उनका (मांस) गूदा, छुहारे, किशमिस, पेड़े, गुलाबजामुन और बकरे का मांस रख कर देख लें कि उनमें से कौन सा मांस उसके दिल में बैठता है और वह किससे घृणा करता है; किसको खाकर प्रसन्न होता है और किससे मुंह बनाता और उबकाता है।

बच्चों की बात तो दूर रही कोई भी पुरुष था स्त्री, किसी भी मजहब या मिल्लत का हो बूचरखाने में निरपराध पशुओं को बे रहमी से कटते देख करुणा से द्रवित या पशुमांस के बाजारों में उन पर मक्खियां भिनभिनाती देख घृणा से अभिभूत और सुन्दर फलों के बाजार में उनको देख प्रसन्नता से प्रभावित हुए बिना रह ही नहीं सकता । मैंने ऐसे सज्जनों से बातचीत की है जो पशुमांस खा तो लेते हैं परन्तु वे किसी पशु या पक्षी को खाने के लिये स्वयं मार नहीं सकते । उनका दयालु पवित्र आत्मा इस क्रूर कर्म को सहन नहीं कर सकता । हाँ, अभ्यास बना लेने की बात ही और है । ऐसे मनुष्यों का भी संसार में अभाव नहीं है जो मृतक पशुओं और मनुष्यों का मांस तक खाने में संकोच नहीं करते । ऐसे ही पुरुष राक्षस या असुर कहलाते हैं ।

अब हमको अथर्ववेद कांड ९ सूक्त ६ मंत्र ३९ को लेकर यह विचार करना है कि उसमें आये हुये 'मांस' शब्द का कौन सा अर्थ वेदों की (Spirit) शिक्षा और प्रकरण के अनुकूल होगा । विवादास्पद मंत्र का पद पाठ यह है:—

एतत् वा उ स्वादीयः यत् अधिगवं,
क्षीरं व मांसं वा तत् एव न अश्नीयात् ।

अर्थ—(एतत् वा उ स्वादीयः) यह जो स्वादिष्ट पदार्थ हैं (यत् अधिगवं क्षीरं) चाहे गाय का दूध हो (वा मांसं) चाहे अन्य कोई मन को अच्छा लगने वाला स्वादिष्ट फल या—मिठाई आदि हो (तत् एव न अश्नीयात्) वह भी [अतिथि से पहिले] न खाय ।

उक्त मंत्र के 'मांस' शब्द से जो 'पशु मांस' ग्रहण करते हैं उनको वेदों की उस ध्वनि को ध्यान में रखना चाहिये जो 'गां मा हिंसीः, अजां मा हिंसीः, अश्वं मा हिंसीः अर्थात् गाय बकरी, घोड़ा को मत मारो और "मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्" अर्थात प्राणी मात्र को मित्र की दृष्टि से देखो,' से निकलती है । अतएव उक्त में पशु मांस कैसे अपेक्षित हो सकता है जो बिना हिंसा (हत्या) के प्राप्त ही नहीं हो सकता । दूसरे इससे पहिले मंत्र ३४ में पशुओं के खाने में बड़ा दोष दिखाया है । उसके शब्द यह हैं:—"प्रजां च वा एषः पशुश्च गृहाणाम् अश्नाति यः पूर्वः अतिथेः अश्नासि ।" अर्थात् जो अतिथि से पहिले भोजन करता है वह घर के सन्तान और पशुओं को खाता है इससे यह स्पष्ट है कि सन्तान और पशु कोई भी भक्ष्य पदार्थ नहीं है अन्यथा दोनों को समान कोटि में रखना और अत्यंत निकृष्ट सन्तान खादन के सदृश पशु खादन का उदाहरण देना निरर्थक हो जाता । तीसरे इस मंत्र में ही 'स्वादीयः' विशेषण पड़ा है जो क्षीर और मांस

दोनों से सम्बन्धित है। गाय का दूध निस्संदेह स्वादिष्ट है जो बालक युवा-वृद्ध-पशु-मांस भक्षक वा अभक्षक सर्व सम्मत है—परन्तु पशुमांस स्वयं कदापि स्वादिष्ट नहीं होता। किन्तु जब तक घी, नमक, मिर्च, मसाला उसके साथ मिलाकर न पकाया जावे उस समय तक पशुमांस खाया ही नहीं जा सकता तथा महा अरुचिकर, घृणोत्पादक और मिचली पैदा करनेवाला है अतएव पशु-मांस' न तो स्वादीय ही कहा जा सकता है और न खाद्य पदार्थ। यह बात दूसरी है कि मनुष्य अपनी पशु प्रकृति के आधीन होकर पशु मांस को अन्य स्वादिष्ट वानस्पत्य या खनिज पदार्थों में लपेट और पका कर उसे खाते २ शराब तम्बाखू आदि बदमजा चीजों के सेवन को भाँति ऐसा अभ्यासी बन जाये कि उन अपेय और अखाद्य पदार्थों में भी अन्य व्यसनों की तरह स्वाद लेने और लोक में उसकी शिक्षा देने लग जावे। परन्तु बुद्धिमान, विचारशील, परोपकारी और पर दुःख देख कर द्रवित होनेवाले सहृदय सज्जन इस तमोभूत उत्कृष्ट गुण-घातक पशुमांस का कभी आदर नहीं कर सकते और न ऐसे हिंसा पाक विचारों से सहमत हो सकते हैं अन्त में निष्कर्ष रूप यह कह कर इस लेख को समाप्त किया जाता है कि वेद, आत्म-जिज्ञ समस्त कोष, प्राणी शास्त्र Ana-tomy-Physiology वनस्पति शास्त्र Botany और आयुर्वेद शास्त्र आदि सन का यह सिद्धांत है कि 'मांस' शब्द से केवल पशु मांस ही का ग्रहण नहीं करना चाहिये। और यही अर्थ उक्त अथर्ववेद का ९-६-२९ में आये हुए 'मांस' शब्द का युक्ति प्रमाण और प्रकरणानुकूल सिद्ध होता है।

वेदों की भाव

(२५)

इन्धानास्त्वा शतꣳ हिमा द्युमन्तꣳ समिधीमहि । वयस्वन्तो वयस्कृतꣳ सहस्वन्तः सहस्कृतम् । अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासो अदाभ्यम् । चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय ॥

(यजु० ३ । १८)

हे अग्नि ! (इन्धानाः) हम जलते हुये लोग (त्वा) तुझ (द्युमन्तꣳ) जलते हुये को (शतꣳ हिमाः) सौ वर्ष तक (समिधीमहि) जलावें । (वयस्वन्तः) हम जीवन वाले लोग (वयस्कृतं) तुझ जीवन देने वाले को । (सहस्वन्तः) साहस वाले हम लोग (सहस्कृतम्) तुझ साहस देने वाले को । (अदब्धासः) किसी से न सताये गये हम लोग (अदाभ्यम्) तुझ अहिंसनीय और (सपत्नदम्भनम्) शत्रु नाशक को जलावें । (चित्रावसो) हे विचित्र प्रकार के लाभ पहुंचाने वाले अग्नि ! (ते) तेरे (स्वस्ति पारम्) कल्याणकारी पार को (अशीय) हम पा जावें ।

इस मंत्र में उस अग्नि को सम्बोधन किया है जिसमें यज्ञ करते हैं। पहले अंश में दो बातें बताई हैं। पहली तो यज्ञ करनेवालों की योग्यता। कहा है कि "जलते" हुये हम लोग जलती हुई अग्नि को जलावें। अग्नि तो जलती हुई है ही। बुझी हुई अग्निको कौन प्रज्वलित कर सकता है ? हवन तो होता ही जलती हुई अग्नि में है। परन्तु कौन हवन करने का अधिकारी है ? वही जो स्वयं भी जलता हुआ हो अर्थात् जिसके आत्मा में जोश और श्रद्धा की अग्नि प्रज्वलित हो रही हो। बाहरी अग्नि में वही समिधा या ईंधन डालने का अधिकारी है जो

स्वयं (इन्धानाः) अर्थात् श्रद्धा के ईंधन से धधक रहा है। जिसका आत्मा ठण्डा है, जिसमें भक्ति की आग बुझ चुकी है, जिसको धर्म पर विश्वास नहीं रहा वह आह्वनीय अग्नि को प्रज्वलित करने में सर्वथा असमर्थ है। कुण्ड की अग्नि पर समिधा रखकर मानो हम अपने भीतर की अग्नि और बाहर की अग्नि में समता उत्पन्न कर रहे हैं।

इसी टुकड़े में दूसरी बात यह कही है कि हम सौ जाड़ों भर (शतꣳ हिमा) हवन करते रहें। बिना हवन यज्ञ के संसार ठण्डा है। सांसारिक वृत्तियां मनुष्य को यज्ञ से हटाती और प्रमादी तथा आलसी बनाती हैं। इसका इलाज यज्ञ है। यज्ञ से न केवल बाहरी शीत दूर होता है किन्तु आत्मिक गर्मी आती है।

फिर कहा है कि "वयस्वन्तः" अर्थात् जीव वाले हम लोग जीवन देने वाले अग्नि को प्रज्वलित करें। यहाँ जो गुण अग्नि का बताया है वही याज्ञिक का। अग्नि उसी वस्तु को गर्म करेगी जिसमें गर्म होने की योग्यता है। जिसमें जीवन है उसमें यज्ञ द्वारा अधिक जीवन आता है, जिसमें बल है वह अधिक बलयुक्त हो जाता है। कोई पुष्टिकारक दवा लाश को पुष्टि नहीं दे सकती। इसी प्रकार जीवनहीन व्यक्तियों और जातियों में यज्ञ भी कुछ जीवन नहीं फूंक सकता। यज्ञ हमारे विकास के लिये हैं परन्तु विकास का बीज पहले हममें होना चाहिये।

तीसरी बात यह बताई है कि यज्ञ हिंसा के लिये नहीं किन्तु हिंसक जीवों के लिये हैं। हिंसकों का मारना हिंसा नहीं, हिंसक तो हिंसनीय हैं ही। उनको न मारना हिंसा को बढ़ाना है। इसलिये अग्नि को यहाँ 'सपत्नदम्भनम्' अर्थात् शत्रुओं को कुचलनेवाला बताया है।

मंत्र के अन्तवाले टुकड़े में अग्नि को 'चित्रावसु' कहा है। अर्थात् इसमें अनेक गुण हैं। यह विचित्र २ वस्तुओं और लाभों का पहुंचानेवाला है। यज्ञ से किसकी सिद्धि नहीं होती, यज्ञ के लाभ अपार हैं। इसीलिये कहा है कि हे अग्नि हम तेरे लाभों के पार को पा जायँ। अर्थात् क्या अच्छा होता अगर हम समझ लेते कि यज्ञ से इतने लाभ हैं तो अवश्य ही जीवन भर यज्ञ करते रहते। यह माना कि यज्ञ के अपार लाभ हैं तब भी 'अपार' के 'पार' पाने की इच्छा ही मनुष्य को आगे बढ़ाती है।

क्या आर्य समाज एक सम्प्रदाय है ?

[श्रीयुत पं० कृष्णानन्द जी]

लाहौर के उर्दू प्रकाश पत्र के गत अंक में श्रीयुत सन्तराम जी बी० ए० का "आर्य्य समाज को सम्प्रदाय मत बनने दो" शीर्षक लेख छपा है। लेखक के विचार उच्च और उदार हैं, परन्तु मेरा निश्चय है कि उनके विचार को ज्यों का त्यों मान लेने से आर्य्यसमाज के मूल सिद्धान्त की हानि है अर्थात् आर्य्यसमाज की विशेषता ही नष्ट हो जायगी। मैं पहले पहल उनका लेख ज्यों का त्यों उद्धृत करता हूँ तदनन्तर उस पर विचार करूँगा वह लिखते हैं :—

"आर्य्य धर्म की एक बहुत बड़ी उत्तमता विचार की स्वतंत्रता रही है। जिस प्रकार इस्लाम और ईसाईमत में विचारों का भेद होने के कारण मुशरिकों या काफिरों और गैर-ईसाइयों को वध करने के लिये जहाद और मजहबी युद्ध होते रहे हैं इस प्रकार आर्य्यधर्म में कभी नहीं हुए। जिस भांति खुदा के नाम पर इस्लाम ने रक्त की नदियाँ बहाईं उस भांति आर्य्यधर्म ने कभी नहीं बहाईं। इसका कारण यह है कि आर्य्य लोग मनुष्य के विचार और बुद्धि को स्वतंत्रता देकर उसके आचरण को ही नियमित करते थे। विचार चाहे किसी के कुछ ही हों, जब तक उसका आचरण ऐसा नहीं जो सोसायटी के लिये हानिकारक हो, तब तक प्राचीन आर्य्यगण उसे किसी प्रकार का दंड नहीं देते थे, इस हेतु उनमें आस्तिक और नास्तिक निराकारवादी और साकारवादी सब तरह के लोगों के लिये स्थान था। यह विचार-स्वातंत्र्य प्राचीन आर्य्यजाति का एक बहुमूल्य गुण और विशेषता है। यह इसको अन्य संकुचित मतों या सम्प्रदायों से उत्कृष्ट ठहराती हैं। युरोप और अमेरिका के समाज आज जहाँ इस आर्य-आदर्श की ओर आ रहे हैं वहाँ सहस्रों दार्शनिक और वैज्ञानिक ऐसे हैं जो बाइबिल को ईश्वर-प्रणीत और महात्मा ईसा को ईश्वर का पुत्र होने में विश्वास नहीं रखते। उनमें अनेक सज्जन ऐसे भी हैं जो आत्मा और परमात्मा तक को भी नहीं मानते। परन्तु पश्चिमी समाज आज उनको उन विचारों के कारण वध्य या दण्डनीय नहीं ठहराता, इसी हेतु वह समाज ज्ञान और विज्ञान में इतनी उन्नति

कर रहा है। वहाँ केवल उस व्यक्ति को दंड दिया जा सकता है जिसका आचरण समाज के लिये दुखद हो।

इसके विरुद्ध इसलाम में यह बात नहीं है। वहाँ कुरान और हज़रत मुहम्मद साहब के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह उठाने से (अविश्वास करने से) संगसारी* का दंड दिया जाता है।

वहाँ आचरण पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता। एक चोर, डाकू और दुष्ट वा दुराचारी मुसलमान को भी एक सत्यवादी, दयालु और परोपकारी ईसाई या हिन्दू से अच्छा समझा जाता है। विचार और बुद्धि पर इस्लाम के इस प्रकार ताला लगा देने का ही यह परिणाम है कि मुस्लिम-समाज साइन्स और फ़िलासफ़ी में कुछ भी उन्नति नहीं कर सका। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि इस्लाम के माननेवाले करोड़ों मनुष्य हैं और मुसलमानों में एक बड़ी संगठन-शक्ति देख पड़ती है, परन्तु इसका कारण उसका धार्मिक अन्धविश्वास नहीं किन्तु इस्लाम की सामाजिक समता और भ्रातृ-भाव है।

मुसलमानों ने गत कई वर्षों में भारत में कई स्थानों में बहुत ऊधम मचाया है, लूटमार की है और अपनी कट्टरता को बड़े ज़ोरों से दिखलाया है। भारतवर्ष के मुसलमान इस समय जो तेज़ी या उपद्रव दिखा रहे हैं उसका कारण कुछ और ही है। नहीं तो अपने अन्धविश्वास या कट्टरपन के हेतु इस्लाम तो आज संसार के अन्य इस्लामी देशों से वहिष्कृत होता जा रहा है। टर्की से इसका बोरिया-बिस्तरा उठ चुका है। मिस्र में इसके ढाँचे ढोले पड़ रहे हैं। रूसी तुर्किस्तान में नमाज़ पढ़नेवाले को सज़ा मिलती है। निदान संसार पुरोहितों और मुल्लाओं आदि के सड़े-विचारों से ऊब गया है।

वैदिकधर्म ही एक ऐसा धर्म था जो आचरण पर उचित बन्धन लगाते हुए भी मनुष्य की बुद्धि और विचार को पूर्ण स्वतंत्रता देता था, जो सम्प्रदायों और मतमतान्तरों से ऊबे हुए मनुष्यों को अपनी गोद में ले सकता था, परन्तु आर्य्यसमाज के कुछ नाममात्र के हितैषी शक्ति के वास्तविक रहस्य को न समझकर इस्लाम के अन्ध-अनुकरण में सार्वभौम वैदिकधर्म को एक संकुचित सम्प्रदाय या मज़हब बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। यह मनोवृत्ति किसी भी सोसायटी की उन्नति का हेतु नहीं हो सकती। प्रथा व रीतियों को धर्म समझना भूल है। परमेश्वर ने सब को एक समान बुद्धि नहीं दी, इस कारण विचार-भेद (विचारों में भिन्नता) होना स्वाभाविक है। जहाँ विचार-भेद रखने का अधिकार नहीं वहाँ उन्नति का मार्ग बन्द है, हाँ आचरण में मनमानी

* पत्थर बरसा कर मार डालना।

करने की किसी को आज्ञा नहीं हो सकती, क्योंकि इससे समाज का संगठन टूट जाता है। इसलिये आर्य्य भाइयों को सोचना चाहिये कि वह वैदिकधर्म को सम्पूर्ण मनुष्य जाति का कल्याण करनेवाला धर्म रहने देना चाहते हैं या एक संकुचित सम्प्रदाय बना डालना।"

मेरा विचार

श्रीमान् सन्तराम जी का कथन यथार्थ है कि प्राचीन आर्य्य लोग सदाचार वा सद्व्यवहार में तत्पर रहते हुए विचार-स्वातंत्र्य के परम प्रेमी, पक्षपाती और समर्थक थे। वास्तव में किसी मनुष्य को इस कारण पापी या अधर्मी या दंडनीय नहीं मानना चाहिये कि वह ईश्वर को निराकार या साकार मानता है अथवा ईश्वर को मानता ही नहीं। मुख्य धर्म तो सदाचार और सद्व्यवहार ही है जैसा कि मनुजी ने लिखा है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः धीर्विद्यासत्यम् क्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।

परन्तु आर्य्यसमाज एक सोसायटी है। यह कोई मत या सम्प्रदाय नहीं है और आर्य्यसमाज को सम्प्रदाय बनाना भी ठीक नहीं। परन्तु प्रत्येक समाज का कुछ न कुछ सिद्धान्त होता है। आर्य्यसमाज का ईश्वर सम्बन्धी सिद्धान्त (प्रसिद्ध दश नियमों में से दूसरा नियम) ईसाई मुसलमानों, पौराणिकों आदि के ईश्वर सम्बन्धी सिद्धान्त की तुलना में आर्य्यसमाज का मस्तक ऊँचा करनेवाला है, सिद्धान्त से आर्य्यसमाज का बड़ा भारी गौरव है। अतः मैंने जहाँ तक विचार किया है आर्य्यसमाज में ईश्वरवादी के लिये स्थान है परन्तु अनीश्वरवादी के लिये स्थान नहीं है मेरा विचार है कि कोई व्यक्ति यदि वेदपाठ, सत्यभाषण, परोपकार और सन्ध्योपासनादि वेदोक्त कर्मों को करता हो परन्तु वेदों को ईश्वरकृत न मानता हो तो भी वह वैदिक धर्म और आर्य्यसमाज से पृथक् नहीं समझा जा सकता। क्योंकि आर्य्यसमाज के मुख्य दस नियमों में महर्षि दयानन्द ने वेदों का पढ़ना-पढ़ाना अनिवार्य बतलाया है परन्तु यह नहीं लिखा कि वेदों को ईश्वरकृत मानना अनिवार्य है। साथ ही साथ ईश्वर को मानना अनिवार्य बतलाया और ईश्वर के स्वरूप और गुण कर्म के विषय में वेदों का क्या सिद्धान्त है इसे श्री स्वामीजी ने दूसरे नियम में बड़ी सुन्दरता से स्पष्ट कर दिया है।

अतः ईश्वर को न माननेवाले को वैदिकधर्मी कहना अनुचित और असंगत होगा। हाँ, ऐसे अनीश्वर-वादी या साकार-वादी या मूर्त्तिपूजक को जो सदाचारी हो, अधर्मी या पापी या दंडनीय मानना घोर अन्याय होगा। यदि हम आर्य्यसमाजिक लोग किसी

व्यक्ति को केवल इस कारण पापी या दण्डनीय मानें कि वह ईश्वर को साकार मानता है तो निस्सन्देह इस आचरण से हम पर आर्य्यसमाज को एक सम्प्रदाय बनाने का दोषारोपण हो सकता है, परन्तु मुसलमानों और ईसाइयों की भाँति हम आर्य्य लोग केवल विश्वास या विचार की भिन्नता के कारण किसी को पापी या अधर्मी या दंडनीय नहीं मानते। अतः आर्य्यसमाज को सम्प्रदाय बनाने का दोष आर्य्यसमाज पर नहीं लग सकता। हाँ यदि कोई आर्य्यसमाजी इतना मूर्ख या पक्षपाती हो कि वह किसी मनुष्य को केवल उपासनाविधि की भिन्नता के कारण अथवा अनीश्वरवादी होने मात्र से ही उसे पापी या अधर्मी या दंडनीय मानता हो तो उसकी भूल है और बेशक उस पर यह दोष लगता है कि उसने आर्य्यसमाज को एक सम्प्रदाय समझ रक्खा है।

हमें खूब समझ लेना चाहिये कि आर्य्यसमाज एक समाज है न कि सम्प्रदाय। महर्षि दयानन्द की दूरदर्शिता देखिये कि उन्होंने इसका नाम मत-परक नहीं रक्खा है किन्तु समाज-परक रक्खा है, जिसका अर्थ स्पष्ट है यह एक समाज है, सोसाइटी है और सोसायटी में भिन्न भिन्न मत के लोगों का होना स्वाभाविक है। परन्तु इस मतभेद या मत भिन्नता की एक सीमा या मर्यादा होनी चाहिये। यह भिन्नता इतनी अधिक न होनी चाहिये कि मूल सिद्धान्त के नितान्त प्रतिकूल हो जाय। ऐसा होने से मूल पर ही कुठाराघात हो जाता है और "नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पं" वाली बात हो जाती है।

मेरा तो निश्चय है कि जो मनुष्य ईश्वर को साकार मानता है या मूर्तिपूजा करता है अथवा अनीश्वरवादी है उसे† वैदिकधर्मी कहना अनुचित होने के साथ साथ आर्यसमाज के मूल सिद्धान्त को ही उड़ा देना है। यों साधारणतया २-४ छोटे छोटे सिद्धान्तों को न मानने से कोई हर्ज या हानि नहीं जैसे किसी उच्च श्रेणी की परीक्षा में लोग छात्रों की छोटी छोटी गल्तियों की उपेक्षा करते हैं पर बड़ी बड़ी गल्तियों को क्षमा नहीं करते। इसी प्रकार उसे आर्यसमाज से पृथक् करना उचित नहीं परन्तु मुख्य और मूल सिद्धान्त को मानना अत्यावश्यक और अनिवार्य है।

अब कृपया हिन्दूसमाज पर ध्यान दीजिये। हिन्दुओं में साकारवादी, निराकारवादी, बहुदेववादी, एकदेववादी, अनीश्वरवादी, अनात्मवादी, सर्वात्मवादी इत्यादि बहुत से भिन्न भिन्न मत के लोग

† हां हम उसे धर्मात्मा कह सकते हैं यदि वह सदाचार व सद्व्यवहार में तत्पर रहे।

विद्यमान हैं। इन सब भिन्न भिन्न मत-वादियों† को हिन्दू ही कहा और माना जाता है। मेरी समझ से इन सब विभिन्न मतवादियों को हिन्दू धर्म के अन्तर्गत कहना और मानना सर्वथा उचित, न्याय-संगत और समयानुकूल अति आवश्यक है। इस प्रकार हिन्दू-धर्म में (यद्यपि हिन्दू नाम प्राचीन नहीं है नवीन है तथापि) देवसमाजी, सिक्ख, जैन, बौद्ध आदि भी निहित वा सम्मिलित हैं।

बौद्ध धर्म की गणना हिन्दूधर्म से बाहर नहीं हो सकती। क्योंकि महात्मा बुद्ध स्वयं आर्य (हिन्दू) थे और उनका चलाया धर्म सांख्य दर्शन के अनुसार अहिंसा संयम और वैराग्य के आधार पर है अर्थात् उन्होंने वेदोक्त ईश्वरोपासना और यज्ञादि कर्मों को छोड़कर केवल सदाचार को ही ग्रहण किया था। सारांश यह कि बौद्धधर्म विस्तृत हिन्दू-धर्म की एक शाखा के तुल्य है।

† यह सब मत परस्पर भिन्न होने पर सेमिटिक मजहबों (यहूदी ईसाई इस्लाम) से इन हिन्दू मतों व सम्प्रदायों में एक विशेष प्रकार का भेद या अन्तर है वह यह कि अहिन्दू सम्प्रदायों (सेमिटिक मतों) में व्यक्ति विशेष और पुस्तक विशेष पर विश्वास लाने को ही मुख्य धर्म और मुक्ति का हेतु मानते हैं परन्तु हिन्दू-सम्प्रदायों (नान् सेमिटिक मतों) में विश्वास लाने मात्र से नहीं किन्तु ज्ञान से अथवा धर्म कर्म या पूजा व भक्ति करने से मुक्ति की प्राप्ति मानी गई है।

श्री सन्तराम जी चाहते हैं कि आर्य समाज में साकारवादी और अनीश्वर वादी भी सम्मिलित किये जायँ। परन्तु मैं नम्रता पूर्वक निवेदन करूँगा कि इस प्रकार आर्यसमाज विकृत व दूषित हो जायगा। हिन्दू-धर्म वा हिन्दू-समाज इस नाम से उनका अभिप्राय भली-भाँति सिद्ध हो जाता है। क्योंकि हिन्दुओं में आस्तिक, नास्तिक, साकारवादी, निरा-कारवादी, मूर्त्ति-पूजक, मूर्त्ति न पूजने वाले, एकदेववादी बहुदेववादी इत्यादि सब मतवादियों के लिए स्थान है परन्तु सेमिटिक मतों के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि सेमिटिक मतों में किसी विशेष व्यक्ति व पुस्तक पर विश्वास लाने को ही परम धर्म और मुक्ति का हेतु मानते हैं और हिन्दू-धर्मान्तर्गत मतों वा सम्प्रदायों में ज्ञान से अथवा कर्म से अथवा भक्ति व उपासना से मुक्ति को प्राप्ति मानते हैं।

श्री सन्तराम जो जो कुछ चाहते हैं वह हिन्दू धर्म वा हिन्दू-समाज के नाम से पहले से ही प्रचलित है। उन्हें इसी पर सन्तुष्ट होकर सम्पूर्ण हिन्दुओं को संगठित करने का प्रयत्न करना चाहिए। आर्यसमाज को विकृत करके उनका अभीष्ट सिद्ध न होगा। आर्यसमाज के मस्तक को ऊंचा करने वाले आर्य्यसमाज के गौरव की रक्षा करनेवाले मुख्य और सर्वोपरि दो ही सिद्धान्त हैं।

(१) ईश्वर की भक्ति या उपासना। (२) वेदों का पढ़ना और पढ़ाना। यदि आर्य्यसमाज के अन्तर्गत साकार-वादी और अनीश्वरवादी समझे जायँ तो आर्य समाज की विशेषता ही नष्ट हो जायगी और आर्यसमाज आर्यसमाज कहलाने योग्य न रह जायगा।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि वैष्णव शैव, शाक्त, राधास्वामीपन्थी, जैन, सिक्ख बौद्ध इत्यादि मतवादियों को क्या आर्य कहना उचित होगा? और क्या इनके मतों को आर्यधर्म के अन्तर्गत मानना उचित होगा? इस प्रश्न का उत्तर यदि "हाँ" है तो बेशक सम्पूर्ण हिन्दू आर्य और हिन्दुओं में जो हजारों मत-मतान्तर हैं वे सब आर्य-धर्म ही कहे और माने जायँगे। इस प्रश्न के उत्तर में मेरा स्वतंत्र विचार यह है कि सम्पूर्ण हिन्दू आर्य कहला सकते हैं (क्योंकि हमारा प्राचीन नाम आर्य ही है) परन्तु वर्त्तमान आर्य-समाज से भिन्न मतवादियों को वैदिक धर्मी कहना अनुचित और असंगत होगा। उदाहरणार्थ वैष्णवों को हम आर्य कह सकते हैं परन्तु उनके मत को वैदिकधर्म नहीं कह सकते। इसी प्रकार जैनियों को आर्य्य कहना अनुचित न होगा परन्तु जैन-धर्म को वैदिकधर्म कहना अन्याय होगा। अस्त।

संसार में वेदों को ईश्वरकृत न मानते हुए भी बहुत से लोग वेदों को आदर-पूर्वक पढ़ते हैं। वे आर्यसमाज के सिद्धान्तानुसार वेदों के अर्थ को नहीं मानते। परन्तु आर्य-समाज का ईश्वर सम्बन्धी सिद्धान्त (जैसा कि दूसरे नियम में है) इतना उत्तम, उदात्त और अनुभवगम्य है कि अमेरिका व यूरोप के अनेक विद्वान् और आर्यसमाज से भिन्न मत के अनेक विद्वान् (जैसे महात्मा गान्धी और रवीन्द्रनाथ टागोर) आर्यसमाज में वर्णित ईश्वर के स्वरूप को हृदय से मानते हैं और भविष्य में भी मानेंगे। संसार से पुराणानुसार साकार-ईश्वर का सिद्धान्त उठ रहा है। कुरान और बाइबिल के अनुसार भी ईश्वर का ऐसी दशा में वेदों में जिस ईश्वर का प्रतिपादन है तथा आर्य-समाज के सुप्रसिद्ध दस नियमों में से दूसरे नियम में ईश्वर के स्वरूप का जैसा वर्णन है वही सिद्धान्त संसार में प्रचलित होने योग्य है। इस प्रकार वैज्ञानिक संसार में केवल तीन ही मुख्य मत रह जायँगे। एक निराकार-ईश्वरवादी दूसरे अनीश्वर वादी तीसरे सर्वात्मवादी।

मेरा निवेदन है कि आर्य समाज एक समाज है जिसमें वे ही सम्मिलित हो सकते हैं जो निराकार ईश्वर को मानते हुये वेदों के अनुसार सर्वांश में नहीं तो आधे से अधिक अंश में आचरण करते हों। चूंकि आर्य समाज कोई सम्प्रदाय नहीं है इस हेतु इसमें कुछ थोड़ा सा मतभेद रखने वाले भी सहर्ष सम्मिलित

किये जायँगे परन्तु इतना अधिक मतभेद रखने वाले नहीं सम्मिलित किये जा सकते कि अनीश्वर-वादी या वेद विरोधी बन जायँ। कम से कम यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्राचीन काल में मनु जी के (स जातिभिर्वहिष्कार्यो नास्तिको वेद निन्दकः) व्यवस्थानुसार वेद विरोधियों को समाज से पृथक् कर देते रहे होंगे। अस्तु !

यह तो मैं भी मानूंगा कि कि केवल रीतियों को ही धर्म समझना ठीक नहीं, परन्तु अच्छी रीतियों से धर्म दृढ़ होता और कुरीतियों से अधर्म बढ़ता है। अतः कुरीतियों को दूर करना, रीतियों में संशोधन व परिवर्त्तन करना प्रत्येक समाज का कर्त्तव्य है। ऐसा किये बिना, किसी समाज की उन्नति नहीं हो सकती आज अधिकांश हिन्दू मुर्दे की भाँति क्यों हैं ? कारण यही है कि वे कुरीतियों के दास बन गये हैं।

आर्यसमाज विचार-स्वातन्त्र्य का विरोधी कदापि नहीं था न है। क्योंकि इसमें कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है कि जो लोग ईश्वर को न मानते हों अथवा वेदों का ईश्वरकृत न मानते हों वे पापी या अधर्मी या दण्डनीय हैं। इसके विपरीत सेमिटिक मतों में विशेष व्यक्ति व पुस्तक पर विश्वास न लाने वाले को पापी और नरक गामी माना गया है। इस्लाम मत में ऐसे मनुष्यों को दण्डनीय भी माना गया है। आर्य समाज विचार स्वातन्त्र्य का पक्षपाती और समर्थक है। क्योंकि आर्यसमाज सदाचार और सद् व्यवहार को ही धर्म का मुख्य लक्षण मानता है परन्त साथ ही साथ ईश्वरास्तित्व को भी मानता है। आर्यसमाज वेदों पर श्रद्धा रखता और वेदों को महत्व देता है परन्तु वह मुसलमानों की भाँति यह नहीं कहता कि जो लोग वेदों को ईश्वर-प्रणीत नहीं मानते वे पापी या अधर्मी हैं। आर्यसमाज ज्ञान सत्कर्म और ईश्वरोपासना तीनों अत्यन्त आवश्यक माने गये हैं। सेमिटिक मतों की भाँति आर्यसमाज के किसी ग्रन्थ में नहीं लिखा है कि ईश्वर पर विश्वास लाने मात्र से मुक्ति मिलती है अथवा वेदों पर विश्वास लाना ही परम धर्म है। अतएव आर्य समाज विचार स्वातन्त्र्य का पूर्णपक्षपाती है परन्तु मतभेद या मतभिन्नता के कारण किसी से द्वेष वा दुर्व्यवहार करने की शिक्षा नहीं देता।† वह तो सब से प्रीति पूर्वक धर्मानुसार यथा योग्य बर्ताव करने की आज्ञा देता है। यथायोग्य इस लिए कहा कि संसार में बहुत से धूर्त और दुष्ट भी रहते हैं। उन दुष्टों के साथ यथायोग्य बर्ताव न करने से अत्याचार बढ़ता है। अतः आर्यसमाज का लक्ष्य ज्ञान का

†मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

प्रसार और सदाचार का प्रचार करना है। चूँकि वेदों में ज्ञान भरा हुआ है अतः वेदों का प्रचार करना आर्यसमाज अपना कर्त्तव्य समझता है। वेद का अर्थ ही ज्ञान है। अतः आर्यसमाज ज्ञान का प्रचारक, अज्ञान का विनाशक फलतः विचार-स्वातन्त्र्य का समर्थक है। आर्य समाज किसी मनुष्य को विचार-स्वातन्त्र्य के कारण पापी या अधर्मी या दण्डनीय नहीं ठहराता, जब तक कि उसका आचरण या व्यवहार दोष युक्त न हो। अतः आर्यसमाज को सम्प्रदाय कहना या मानना अनुचित है।

इति शम्।

समालोचना

सचित्र चपटी खोपड़ी

लेखक, बा० अवध विहारीलाल "अवध" बी० ए० एल-एल०बी० "विशारद", प्रकाशक तरुण भारत ग्रन्थावली, दारागंज प्रयाग। पृष्ठ संख्या सौ के लगभग मूल्य १)। कागज़ उत्तम छपाई साफ़।

"चपटी खोपड़ी" जैसे शब्द के श्रवण होते ही हृदय में एक प्रकार की गुदगुदी सी उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य ठट्ठा कर हंस पड़ता है। निस्संदेह उक्त नाम की पुस्तक अपने यथा नाम तथा गुण को चरितार्थ करती है। यह अपने ढंग की नवीन तथा अनोखी पुस्तक है। इसके सम्पूर्ण विषय इस प्रकार सात खंडों में दर्शाये गये हैं :—

१—"चमन से" "चपटी खोपड़ी"। २—नौ नगद न तेरह उधार। ३—रुपयों की वर्षा। ४—विपत्ति के बादल। ५—काशी यात्रा। ६—नोंक झोंक। ७—अनोखी पिनक।

हास्य एवं मनोविनोद को लक्ष्य में रखकर ही इस पुस्तक की रचना हुई है। प्रायः जन-समूहों में देखा भी गया है जैसा पुस्तक का आशय है कि लोग किसी एक व्यक्ति को चुनकर और अपने मनोविनोद के लिये उसके उक्त प्रकार के नाम आदि उसके स्वभाव एवं गुणानुसार रखकर उसकी खिल्लियाँ उड़ाते हैं। इसी भाँति "चमन" उपनाम चपटी खोपड़ी नामक कल्पित और प्रधान पात्र पर ऐसी घटनायें घटाई गई हैं जो विनोद-जनक हैं, जिससे पुस्तक रोचक दृष्टिगत होती है। इसमें कई चित्र भी दिये गये हैं, जिनको देखते ही अनायास हंसी छूट पड़ती है। निस्सन्देह पुस्तक मनोविनोद के लिये उपयोगी है।

—चिन्तामणि "मणि"

स्वर्ग

[श्री महात्मा नारायण स्वामी जी]

[श्री पं० देवदत्त जी शर्म्मा, जी ने स्वर्ग विषयक कुछ शंकायें भेजी थीं। उनका उत्तर श्री महात्मा नारायण स्वामी जी ने दिया था। उसी क्रम में कुछ शंकायें फिर पं. जी ने भेजी। इनका उत्तर भी लिखने की श्री महात्मा नारायण स्वामी जी ने फिर कृपा की है। उत्तर कोष्ठों में (ब्रेकेट) दिया गया है।]

— सम्पादक

मैं ने स्वर्ग विषय पर कुछ शङ्कायें लेख रूप में श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय की सेवामें भेजी थीं। वह लेख उन्होंने बड़ी कृपा करके "वेदोदय" की दिसम्बर सन् १९३० व जनवरी सन् १९३१ की दो संख्याओं में प्रकाशित किया था। उस लेख में की गई शङ्काओं का उत्तर असीम कृपा करके परम पूज्य महात्मा श्री नारायण स्वामी जी ने "वेदोदय" की जून व जुलाई सन् १९३१ की संख्याओं में दिया है। परन्तु मुझे दुःख से लिखना पड़ता है कि मेरा कुछ भी समाधान नहीं हो सका है। इसका कारण मेरी मतिमन्दता ही होगी। परन्तु सम्भव है कि द्वितीय बार के उत्तर में विषय अधिक स्पष्ट हो जावे। इसलिये इस संक्षिप्त लेख में अपनी शङ्काओं को फिर दुहराता हूं। सर्व प्रथम उत्तर के विषय में कुछ निवेदन करूंगा। माननीय उत्तरदाता ने–'लेख का मुख्य भाग स्वर्ग विषयक एक कल्पना पर निर्भर है' यह लिख कर श्री पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के विचारों की दीर्घ समालोचना की है। परन्तु मेरी शङ्काओं का आधार श्री पं० जी की कल्पना नहीं हैं। प्रत्युत, वेद व उपनिषद् के वे स्थल हैं जो स्वर्ग का वर्णन करते हैं—तथा "मृत्यु और परलोक" के वे स्थल हैं जिनमें दूसरी गति का वर्णन किया गया है और परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं। श्री पं० जी का मत केवल अपने विचारों की पुष्टि के लिये दिखलाया था। यद्यपि श्री पं० जी के मत से प्रायः सर्वांशों में सहमत हूं, परन्तु जो समालोचना श्री नारायण स्वामी जी ने उनके विचारों की की है, उसका उत्तर देना, मैं अपने अधिकार से बाहर की बात समझता हूं। तथा श्री पं० सातवलेकर जी के विचारों को अलग रखने से भी मेरी शङ्कायें ज्यों की त्यों प्रबल बनी रहती हैं। ऐसा मेरा विचार है। श्री नारायण स्वामी जी ने जुलाई मास के "वेदोदय" में पृष्ठ १३०

व १९३१ में मृत्यु और परलोक में वर्णित स्वर्ग" शीर्षक देकर निम्नलिखित विचार प्रकट किये हैं—पहली व दूसरी गति में जाने वाले एक जैसा शरीर रखते हैं, एक जैसे लोक में रहते हैं। वेद में इन लोकों को द्यौ और पृथ्वी अर्थात् प्रकाशित और अप्रकाशित लोक कहा गया है। पहली और दूसरी गति वालों में अन्तर यह होता है कि पहली गति को सुख दुख दोनों अथवा केवल दुःख का उपभोग करते हैं। दूसरी गति वाले केवल सुख भोगते हैं। ये ऐसे लोकों में जाते हैं जहां अधिक सुख हो परन्तु वहां भी वे स्थूल शरीर के साथ ही होंगे। इन विचारों की संक्षेप में समालोचना करता हूँ—

कठ उपनिषद् में नचिकेता का दूसरा प्रश्न दूसरी गति के विषय का है (कृपया देखिये "वेदोदय" संख्या जनवरी १९३१ पृष्ठ १४६)

"स्वर्ग लोक में कुछ भी भय नहीं है, न वहां मौत है, न कोई बुढ़ापे से डरता है। भूख और प्यास दोनों को तर कर शोक से वर्जित पुरुष स्वर्ग लोक में आनन्द करता है।" इससे स्पष्ट है कि दूसरी गति में जाने वाले प्राणियों का स्थूल शरीर नहीं होता। स्थूल शरीर में मृत्यु, बुढ़ापा, भूख, प्यास न हो यह असम्भव है। यदि यह वर्णन मोक्ष का माना जावे, तो तीसरे प्रश्न की क्या आवश्यकता है? तथा तीसरे प्रश्न के उत्तर में ही तो आत्मज्ञान कराया गया है। बिना ज्ञान मुक्ति कैसे सम्भव हो सकती है?

[यह समझना भूल है कि कठोपनिषद् की तीन बातें (नचिकेता के ३ वर) मरने की बाद की ३ गतियों से सम्बन्धित हैं। उसका पहला प्रश्न अपने पिता को प्रसन्न करने के लिये था। दूसरे प्रश्न के द्वारा उसने स्वर्ग प्राप्ति के साधन पूछे हैं। तीसरे के द्वारा उसने यह पूछा था कि मरने के बाद जीवात्मा बाकी रहता है या नहीं। दूसरे प्रश्न में आये स्वर्ग शब्द का अभिप्राय मोक्ष से है जैसा कि प्रश्न के इन शब्दों से प्रकट होता है:— "स्वर्गलोका अमृतत्वं अमृतत्वं भजन्त' अर्थ-स्वर्ग निवासी अमरता का सेवन करते हैं। द्वितीय गति वालों का अमृतत्व से कोई सम्बन्ध नहीं है।]

सूक्ष्म शरीरधारी प्राणियों के वास के लिये सूक्ष्मलोक होना चाहिये, स्थूल लोक नहीं। अतएव वे सूक्ष्म लोक में रहते हैं। यह लोक अन्तरिक्ष में है—

अथ यदि द्विमात्रेण
मनसि सम्पद्यते।
सोऽन्तरिक्षं यजुर्भि-
रुन्नीयते स सोमलोकं॥
स सोमलोके विभूति
मनुभूय पुनरावर्तते।
[प्रश्नोपनिषद् पांचवां प्रश्न श्लोक ४]

[प्रश्नोपनिषद् के इस वाक्य में एक भी शब्द नहीं है जिससे किसी सूक्ष्मधारी प्राणियों के किसी सूक्ष्मलोक का संकेत भी पाया जाता हो। सोमलोक चन्द्रलोक को कहते हैं और ये चन्द्रलोक क्या जितने भी संसार में लोक लोकान्तर हैं सभी अन्तरिक्ष में हैं।]

श्री नारायण स्वामी जी ने "वेदोदय" जुलाई की संख्या पृष्ठ १३१ में "वेद" किस प्रकार इस मृत्यु परलोकवाली कल्पना के पोषक हैं। यह शीर्षक देकर निम्नलिखित विचार प्रकट किये हैं-- अनस्था पूताः--इत्यादि (अथर्व ४-३४-२) "अनस्था" का अर्थ विकार रहित समझता हूं। कृपया इस समझने का आधार लिखिये। अस्थि की अर्थकोष में हड्डी ही प्रसिद्ध है।

[स्वयं सातवलेकर जी ने भी जहां तक मुझे स्मरण है कि एक दूसरी जगह इसी प्रकरण में अनस्था के लिये विदेह या विदेही शब्द प्रयुक्त किया है। इस शब्द के प्रयोग से उन्होंने भी इस शब्द के अर्थ विकार रहित होना स्वीकार कर लिया है क्योंकि जनक को विदेह ही कहते थे। क्या उसके हड्डी वाला (स्थूल) शरीर नहीं था—अस्थि या अस्थ के अर्थ गुठली (The Kernal or stone of a fruit) के भी हैं इसका भी तात्पर्य, जहां तक फलों का भोज्य होने का सम्बन्ध है, निकम्मी और त्याज्य वस्तु ही के हैं। इसलिये " अनस्थाः " का अर्थ " विकार रहित " बिलकुल ठीक है। शतपथ ब्राह्मण के एक वाक्य ने जिसको नीचे उद्धृत किया जाता है, स्पष्ट कर दिया है कि स्वर्गलोक में यजमान स्थूल शरीर के साथ ही पैदा होता है :—

स ह सर्वतनूरेव यजमानोऽमुष्मिल्लोके संभवति ॥ शतपथ ४।६।१।१

अर्थात् वह यजमान समस्त शरीर के साथ उस अगले (स्वर्ग) लोक में उत्पन्न होता है।)

"वेदोदय" जुलाई पृष्ठ १३१ में मेरे प्रश्न के उत्तर में लिखा है। वैदिक पद्धति के अनुसार केवल सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर के बिना जागृत अवस्था में कुछ भी नहीं कर सकता। (ठीक है, दूसरी गति वालों की अवस्था जागृतावस्था न होकर स्वप्नावस्था ही होती है) मेरे इस प्रश्न के उत्तर में कि यदि वे देव उच्च कोटि के मनुष्य हैं तो वे कर्मयोनि ही में मानने पड़ेंगे। फिर उनके पुण्य क्षीण किस प्रकार हो सकते हैं?

[यह बात कल्पना मात्र है कि दूसरी गति वाले केवल स्वप्नावस्था ही में रहते हैं। स्वप्नावस्था में अपने कर्मों का फल सुख किस प्रकार बिना इन्द्रियों के कोई भोग सकता है।]

वेदोदय जुलाई पृष्ठ १३२ में लिखते हैं :—

कर्मयोनि में होते हुए भी प्राणि के भोग समाप्त होने से पुण्य और पाप दोनों क्षीण हो जाया करते हैं। इसमें सन्देह किस लिये। यदि कहो वे नये कर्म करके नये पुण्य और पाप संयम करते रहेंगे तो वे उनको फिर भोगेंगे आदि।

इस विषय में मेरा निवेदन यह है कि स्वर्ग में अर्थात् चन्द्रलोक में वे लोग जावेंगे जिन्होंने केवल पुण्य ही पुण्य किये हैं। ऐसे अवस्था में वे पाप करें यह तो सम्भव हीं नहीं। क्योंकि पापों से तो वे पृथक् हो चुके हैं। जैसा कि दिसम्बर के वेदोदय पृष्ठ १०४ पर गीता के श्लोकों से दिखाया है। अब वे पुण्य ही पुण्य करेंगे तो उनके पिछले पुण्य समाप्त होने नहीं पावेंगे कि नये और सञ्चित हो जावेंगे। ऐसी अवस्था में उनकी उच्च गति की सम्भावना हो सकती है, परन्तु निम्न गति की नहीं। आर्य ग्रन्थों में उनकी निम्न गति लिखी है। जिससे स्पष्ट है कि स्वर्ग भोगयोनि है। देखिये दिसम्बर का वेदोदय पृष्ठ १०४ श्रीमद्भगवद्गीता का प्रमाण तथा इसी लेख में प्रश्नोपनिषद् के ये शब्द—

स सोमलोके विभूति मनुभूय
पुनरावर्त्तते ॥

तथा—एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः।
सूर्यस्यरश्मिभिः यजमानं वहन्ति॥
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयस्य
एषवः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः॥

मुण्डकोपनिषद् दूसरा खण्ड ६ ठा

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा-अष्टादशोक्त-म्वरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयोयेऽभिनन्दन्ति मूढा। जरामृत्युं ते पुनरेवारयन्ति ॥७॥

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे ये
लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥१०॥

वे आहुतियां आओ आओ कहती हुई, सूर्य की किरणों द्वारा उस यजमान को उठा कर ले जाती हैं। प्यारी वाणी बोलती हुई और पूजती हुई उसको कहती हैं, यह तुम्हारा पवित्र शुभ कर्मों से उपार्जित ब्रह्मलोक है ॥६॥ ये यज्ञरूप नौकायें, जिनमें अठारह दूसरे कर्म कहे हैं अदृढ़ हैं। यह यज्ञ ही कल्याण का कारण है ऐसी जो मूढ़ प्रशंसा करते हैं वे बुढ़ापे व मृत्यु को फिर भी प्राप्त करते हैं ॥७॥

इष्ट और पूर्त्त को ही श्रेष्ठ मानते हुए मूर्ख लोग समझते हैं कि अन्य कुछ श्रेय नहीं है। वे स्वर्ग में पुण्य फल भोग कर इस हीन तर दुःखमय लोक को प्राप्त करते हैं ॥१०॥

[सकाम करने वाले प्राणियों के चित्त में सकाम कर्म से उत्पन्न वासना समूह रहा करता है। ये वासना बन्धन

का हेतु है, इन वासनाओं के हेतु जब तक कोई इन्हें लगातार निष्काम करके नष्ट न करें, उस व्यक्ति को अवश्य नीचे के लोक में आना पड़ेगा, यदि वह स्वर्गलोक में अच्छे (निष्काम) कर्म करके ऊपर की गति (मोक्ष) को प्राप्त करलें तो कोई सिद्धान्त हानि नहीं है। जब शतपथ के प्रमाण से यह बतला दिया गया कि यजमान स्थूल शरीर के साथ स्वर्ग में जाता है तो फिर स्वर्ग को भोगयोनि नहीं कह सकते।]

इन मुण्डक उपनिषद् के तीन श्लोकों पर विचार करने से कुछ बड़े सुन्दर परिणाम निकलते हैं—

[१—ब्रह्मलोक उच्चतम स्वर्ग का नाम है। मोक्ष का नहीं। क्योंकि मोक्ष शुभ कर्मों से प्राप्त नहीं होता। इसमें प्रमाण।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जना परमं साम्यामुपैति ॥

मुण्डक उप० ३ मुण्डक प्रथम खण्ड ३

इसमें 'पुण्यपापे विधूय' ये शब्द आये हैं। जिससे स्पष्ट है कि मोक्ष प्राप्ति के लिये पुण्य के बन्धनों से भी छूटना आवश्यक है ?

२—जो मनुष्य इष्ट व पूर्त्ति आदि सकाम कर्मों में ही लगे रहते हैं वे स्वर्ग में अपने पुण्यों का फलयोग-हीन लोक में (मर्त्य लोक कर्त्तव्य लोक) आजाते है।

यहाँ पर मैं फिर ऊपर का प्रश्न दोहराना चाहता हूं कि 'देव' उच्च कोटि के मनुष्य जिनसे नीच कर्मों की सम्भावना कदापि नहीं है। क्योंकि सब प्रकार के पापों को वे दूर कर चुके हैं। केवल वासनाओं का नाश नहीं हुआ है। वे निम्नगति को क्यों और कैसे प्राप्त करेंगे। तथा ऊपर लिखे ७ वें श्लोक में जरामृत्युं ते पुनरेवा पयन्ति" ये शब्द क्या इस बात को सिद्ध नहीं करते कि वे अब तक ऐसे लोक में थे। जहाँ जरामृत्यु नहीं होती। स्मरण कीजिये कठोपनिषद् का प्रमाण "स्वर्गे लोके नभयं किंचनास्ति न तत्रत्वं न जरया बिभेति।" निष्पक्षदृष्टि से विचार करने पर स्वर्ग में स्थूल शरीर होना असम्भव प्रतीत होता है। तथा स्वर्ग को कर्म योनि भी नहीं माना जा सकता।

[मोक्ष शुभ कर्मों से प्राप्त नहीं होता, इसका अभिप्राय यह है कि वे शुभकर्म, जो सकामता पूर्ण हों, वासनोत्पादक होने से मोक्ष का कारण नहीं हो सकते परन्तु निष्काम कर्मों का फल अनुपम मोक्ष है, और ज्ञानकर्म दोनों के सम्प्रदाय ही से मोक्ष प्राप्त हुआ करता है। मुंडक ३० में ३।१।३ में आये पुण्य का अभिप्राय उपर्युक्त सकाम कर्म ही से है।

फिर भी नारायण स्वामी जी जुलाई मास के "वेदोदय" पृष्ठ १३२ पर मेरे प्रश्न के उत्तर में लिखते हैं। आक्षेपक ने इस बात पर विचार नहीं किया कि स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर को अधिक दुःख भोगना पड़ता है आदि। इस विषय में मेरा निवेदन यह है कि जिनके पवित्र विचार हो गये हैं जिनकी वासनाएं एकान्त शुभ हैं ऐसे स्वर्गस्थ व्यक्तियों को दुःख किस प्रकार होगा। बुरे भयानक स्वप्नों का कारण बुरी व अपवित्र वासना होती हैं। क्या किसी महात्मा को मार काट या डकैती के स्वप्न आते हैं। स्वप्न में अशान्ति व दुःख किन्हें प्राप्त होता है कृपया इस बात का विचार कीजिये। अतएव सूक्ष्म शरीर वाले स्वर्गीय जीवों को पवित्र शुभ वासनाओं के कारण केवल सुख ही होता है। पर यदि उनका स्थूल शरीर माना जावें। तब तो भूख प्यास-बुढ़ापा-मौत आदि अनेक कष्ट उन्हें भोगने पड़ेंगे।

[स्वर्ग-प्राप्त प्राणियों के चित्त जन्मजन्मान्तर की वासनाओं से पूर्ण रहते हैं। ये वासनायें अच्छे सकाम कर्म की भी होने पर बन्धन का हेतु हैं और बन्धन को दुःख से पृथक नहीं कह सकते।]

अब मैंने जो शङ्कायें दिसम्बर ३० व जनवरी ३१ के "वेदोदय" में की थीं और जिनका उत्तर परम पूज्य श्री नारायण स्वामी जी ने नहीं दिया है उनका उल्लेख करता हूं—दिसम्बर का वेदोदय पृष्ठ १०३

१—महर्षि दयानन्द स्वर्ग को सुख विशेष योग और उसकी सामग्री की प्राप्ति बताते हैं। तथा आप जिसमें केवल हर्ष ही हर्ष हो दुःख का लेश न हो बता रहे हैं। कृपया लिखिये इन दोनों व्याख्याओं में कुछ भेद है या नहीं? मुझे तो सुख विशेष व केवल सुख इसमें अन्तर मालूम पड़ता है। क्योंकि सुख विशेष में कुछ दुःख का भी समावेश हो जाता है।

(दिसम्बर वेदोदय पृष्ठ १०४ में)

[जब लेखक भी स्वयं अपने लेख में यह स्वीकार कर चुका है कि "स्वर्गीय जीवों को पवित्र शुभ वासनाओं के कारण केवल सुख ही हो जाता है" तो इस प्रश्न का उत्तर उसे स्वयं देना चाहिये था। ऋषि दयानन्द ने जो सुख विशेष शब्द प्रयुक्त किये हैं और जिसमें दुःख की झलक आती है वह झलक वासनाओं के कारण ही से है जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है।]

२—मृत्यु और परलोक पृष्ठ ६३ में लिखा है कि 'कर्मों के क्षीण व भोगों के समाप्त होने पर उन्हें फिर कर्तव्य

योनि में आना पड़ता है। कृपया लिखिये कि क्या वे अब कर्त्तव्य योनि में नहीं थे? यदि थे ही तो फिर कर्त्तव्य योनि में आना पड़ता है। इसका क्या अर्थ?

[फिर कर्तव्य योनि में आने का अभिप्राय माता के गर्भ कष्ट भोगने के बाद साधारण मनुष्य योनि में आने से है जहां उनको कर्म करके फिर ऊँचे या नीचे ले जाने का अवसर प्राप्त होता है। अब तक वे श्रेष्ठ मनुष्य योनि में थे जिसमें सुखों का उपभोग कर रहे थे।]

मृत्यु और परलोक पृष्ठ ७७ में लिखा गया है कि चान्द्रमसि दशा में पहुँचने वाले जीवों के साथ भी यह उत्पन्न वासना उनके सूक्ष्म शरीरों में निहित रहती है। कर्म फल क्षीण होने पर जीवों को इसी वासना के कारण माता के गर्भ में आना पड़ता है। कृपया लिखिये कि जब तक कर्म फल क्षीण नहीं हुए। तब वे बिना माता के गर्भ में आये ही स्थूल शरीर वाले कैसे बन जाते हैं। (पृष्ठ १०६, १०७)

[यह किसने कहा कि माता के गर्भ में आये बिना स्वर्ग प्राप्त जीव स्थूल शरीर प्राप्त कर लेते हैं। स्वर्ग में जाने का अर्थ ही यह है कि माता गर्भ से समस्त शरीर के साथ स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। (देखो उत्तर ३)]

४—स्थूल शरीर वाले स्वर्ग-वासियों को काम धेनु आदि किस प्रकार की मिलती हैं। लिखिये। "विश्वरूपा धेनुः कामदुघा ये अस्तु" ! "पक्षीह भूत्वा दिवः समेति" का क्या अर्थ करते हैं?

[स्थूल शरीर वाले स्वर्ग वासियों को काम धेनु उसी प्रकार की मिलती है जैसी वशिष्ठ जी के पास थी और जिसके लिये विश्वामित्र जी ने उनसे युद्ध किया था।

"पक्षो ह भूत्वा दिवः समेति" का अर्थ यह है कि पक्षी के (समान हो कर द्यु लोक को प्राप्त करना है। जितने भी प्राणी मर कर दूसरे मंगलादि लोकों में उत्पन्न होते हैं वे सभी इसी प्रकार जाया करते हैं।]

५—मृत्यु और परलोक पृष्ठ ६२ में लिखा है। कर्मों के क्षीण और भोगों के समाप्त होने पर उन्हें फिर कर्त्तव्य योनि में आना पड़ता है। कृपया लिखिये कि वे अब तक किस योनि में थे?

[वे अब तक श्रेष्ठ मनुष्य (देव) योनि में थे (देखो उत्तर ९)]

६—जनवरी सन् १९३२ के वेदोदय में पृष्ठ १४६ में २ संख्यक प्रश्न-मोक्ष में स्त्री सुख आदि का कोई प्रयोजन ही नहीं माना जा सकता। ब्रह्मानन्द

के सन्मुख ये सुख अति तुच्छ हैं। इत्यादि का क्या उत्तर दिया है ? कृपया लिखिये।

[ब्रह्मानन्द का आनन्द निर्द्वन्द है परन्तु सुख दुःख का द्वन्द्व होने से उसके मुकाबिले तुच्छ है यह बिलकुल ठीक है।]

७—उसी अंक के उसी पृष्ठ पर दिये कठोउपनिषद् के श्लोकों "स्वर्गेलोके आदि" पर क्या समाधान किया है ? कृपया लिखिये।

[कठोपनिषद् के "स्वर्गेलोके" के समाधान के लिये देखो उत्तर (१)।]

८—उसी अंक के पृष्ठ १५७ में ३ संख्यक प्रश्न का भूख प्यास बुढ़ापा मृत्यु, स्थूल शरीर के साथ अवश्य रहेंगे जोकि स्वर्ग में नहीं है। का क्या उत्तर दिया गया है ? कृपया लिखिये।

[कठोपनिषद में आये "स्वर्गे लोके" स्वर्ग निवासियों के भूख यास न होने के समाधान के लिये भी देखो पहला उत्तर।]

आर्य्य समाज के निर्माता

ठाकुर कृष्णलाल जी

आर्य्य समाज एक ऐसी संस्था है जहां पर धन का वैभव नहीं माना जाता। यह आवश्यक नहीं कि धनी का विशेष आदर किया जाय। यहां तो आचार तथा प्रेम की महिमा है। यदि आदमी का आचार उच्च है और समाज की सेवा से प्रेम है तो सब उसको मस्तक पर चढ़ावेंगे चाहें उसके पास धन न हो। मुझे श्री महात्मा नारायण स्वामी जी (प्रधान, सार्वदेशिक आर्य्य प्रतिनिधि सभा) ने स्वयं बतलाया कि ठा० कृष्ण-लाल जी की गणना ऐसे ही लोगों में थी। आर्य्य समाज मथुरा जिसके संस्थापक ठा० कृष्णलाल थे उनके आचार का सिक्का सब पर जमा था। आर्य्य समाज मथुरा में अनेकों रईस तथा जमीदार थे पर जब प्रधान बनाने का प्रश्न उठाता तो ठाकुर कृष्णलाल ही सब की जबान पर होते। वे सर्व सम्मति से प्रधान चुने जाते।

दूसरी बात जो महात्मा जी ने बतलाई वह यह थी। ठाकुर कृष्णलाल जी कुछ मित्रों के साथ प्रतिदिन समाज में संध्या हवन करने आया करते थे। कभी नागा न होता। यदि उस मंडली में से कोई किसी दिन अनुपस्थित होता, तो दूसरे दिन सुबह ठाकुर साहब कुशल पूछने के लिये उसके घर पर जाते। वह किसी तरह की शिकायत न करते थे। केवल कुशल पूछते थे। इस बात का कितना प्रभाव पड़ता था। लोगों को डर रहता कि भाई समाज में अवश्य चलो नहीं तो ठाकुर साहब को कष्ट करना पड़ेगा। कितना महत्व पूर्ण जीवन है। धन्य है ऐसे लोग जो मनुष्य के रूप में देव तुल्य है।

ठाकुर कृष्णलाल जी नागर ब्राह्मण थे। इनका जन्म काशी में ठाकुर गिरिधर लाल जी के घर में संवत् १८८६ में हुआ और संवत् १९६३ में मथुरा में स्वर्गवास हुआ। आप संस्कृत फारसी और अर्बी के अच्छे ज्ञाता थे। आप बहुत पुराने आर्य

थे। काशी में स्वामी दयानन्द से जो प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ था उसे ठाकुर कृष्णलाल जी ने देखा था। जब स्वामी दयानन्द स्वामी विरजानन्द से मथुरा में अष्टाध्यायी व महाभाष्य आदि पढ़ते थे उस समय यह मथुरा में मौजूद थे। आप वेदभाष्य के आरम्भ से ही ग्राहक थे। आपने अपने द्रव्योपार्जन से आर्य समाज मन्दिर मथुरा के लिये भूमि २३३) रु० में खरीद करके आर्यसमाज के नाम उसकी रजिष्ट्री करा दी और अपना निजी १६२५) रु० व्यय करके उस पर भवन बनवा दिया। और फिर १५ वर्ष के बाद उस पर दो कोठा ६००) रु० लगाकर अपने तथा अपने पुत्र काशीलाल उपनाम मोहनलाल नागर के नाम से बना दिये।

ठाकुर कृष्णलाल जी "आर्यसमाज मथुरा" के संस्थापक तथा प्रधान थे। वह दीन-दुखियों, अनाथों और सन्यासियों व उपदेशकों को बहुत दान दिया करते थे। वह बाजार में चलते-चलते लोगों से वैदिक धर्म की चर्चा करते थे। और कोई मनुष्य यदि ऋषि दयानन्द की प्रशंसा करता और आर्यसमाज के सिद्धान्तों को मानता और उसे वह दान के योग्य समझते तो तुरन्त कुछ रुपये दे देते थे। उन्होंने आर्य समाज का भवन बनवा कर आर्यप्रतिनिधि सभा और परोपकारिणी सभा के नाम १५) रु० स्टाम्प पर ता० ५ जुलाई १९९० को रजिष्ट्री करा दी। वह आर्यसमाज मन्दिर में नित्य आते थे और लोगों को उपदेश देते थे।

उनके केवल एक ही पुत्र काशीलाल उपनाम मोहनलाल नागर ब्राह्मण हैं) उनके पुत्र ने पिता की मृत्यु के बाद आर्यसमाज के भवन में एक गेलरी अपने पास से बनवा दी और २०) रु० का तांबे का हवनकुण्ड खरीद करके आर्य समाज मथुरा को दान दिया। और अपने पिता की मृत्यु के बाद आर्यसमाज मथुरा व गुरुकुल बृंदावन आदि संस्थाओं को कुल १५००) रु० दान दिया। मोहनलाल ने २४२) रु० भवन-फंड में दान दिया था इनकी स्त्री श्रीमती सरस्वती कुंवरि ने ११०) रु० कन्या-पाठशाला को दान दिया। काशीलाल उपनाम मोहनलाल ने ऋग्वेद व यजुर्वेद स्वामी दयानन्द कृत भाष्य सहित, उपनिषदें और षड्दर्शन और पूर्वी फारसी हिन्दी की कुल पुस्तकें आर्य समाज मथुरा को दान में दे दीं। भाड़पुरा पाठशाला के भवनके निर्माणार्थ ५५) रु० दान दिया। स्त्री के मर जाने के बाद चूंकि कोई सन्तान नहीं थी इसलिये मोहनलाल ने एक दानपत्र २ अक्टूबर सन् १९२२ को लिखकर

रजिस्ट्री करा दी कि मेरे मरने के बाद मेरी सब सम्पति आर्य कन्या पाठशाला मथुरा को दे दी जाय, चल और अचल सम्पत्ति से केवल एक भवन बृन्दावन में अनुमानतः ५००) की लागत का मेरे मरणोपरान्त गुरुकुल वृन्दावन के अधिकार में रहे। मोहनलाल अंगरेजी में मैट्रिक पास हैं परन्तु अर्बी व फारसी के विद्वान् हैं। संस्कृत कम जानने से वेदों उपनिषदों, दर्शनों आदि के हिन्दी अनुवाद से ही अपना अध्ययन जारी रखते हैं। इनकी उम्र इस समय ६७ वर्ष की है। यह मथुरा की कचहरी में अरायज नवीस हैं। इन्होंने भी आगरा में स्वामी दयानन्द के दर्शन किये और अपने पिता जी के साथ स्वामी जी का व्याख्यान सुना था। वेदभाष्य की ८) रु० की रसीद स्वामी दयानन्दके हाथ की लिखी इनके पिता जी के नाम मौजूद है।

इस थोड़े से वृत्तान्त से ठाकुर कृष्णलाल जी के अपूर्व त्याग का परिचय मिल सकता है। ठाकुर कृष्णलाल जी उन सौभाग्यशाली पुरुषों में से हैं जिनके जीवन का एक एक क्षण, तथा उनके उपार्जित धन की प्रत्येक पाई आर्य्यसमाज की सेवा में लगी है। ऐसे ही सदाचारी पुरुषों ने आर्यसमाज की आधार शिला रक्खी है।

राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन और दयानन्द

[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०]

(गतांक से आगे)

अब पाठकों की समझ में आगया होगा कि श्रीयुत केशवचन्द्र सेन के नव-विधान का क्या तात्पर्य था। वह एक ऐसा चर्च बनाना चाहते थे जिसमें सभी धर्मशास्त्रों का निचोड़ हो और सभी मतानुयायी मिल सकें। उनकी यह भावना थी कि भारतवर्ष का भावीधर्म इसी प्रकार का होगा। जिस ब्रह्मसमाज में वह श्री देवेन्द्रनाथ टागौर के योग से सम्मिलित हुये थे वह उनको भारतीयों की प्रकृति के विरुद्ध जान पड़ा। वह कहते थे कि भारतवर्षीय जनता केवल औपनिषदिक या दार्शनिकधर्म (metaphysical religion) के तृप्त नहीं हो सकती। मूर्ति पूजा और बहु-ईश्वरवाद के वह विरुद्ध थे। वह श्रद्धा और भक्ति के प्रचारक थे। परन्तु उनको यह स्वीकार न था कि इस भक्ति का आधार केवल भारतीय हो। उनको ईसा मसीह पर बहुत श्रद्धा थी। उनके नव-विधान में यह सब सामग्री एकत्रित करने का उपाय किया गया था। १८९२ ई० में उन्होंने एक व्याख्यान दिया था जिसका विषय था। ("That marvellous Mystery. The Trinity") अर्थात् त्रैतवाद का रहस्य। इसमें उन्होंने ऋग्वेद के प्रसिद्ध "नासदासीत्" सूक्त से आरंभ किया और अन्त में ईसा मसीह के अवतार पर समाप्त किया इस प्रकार हिन्दुओं के "ब्रह्म" और ईसाइयों से "शब्द" (Logos) का समन्वय कर दिया! जब वह बङ्गाल में प्रार्थना करते थे तो हिन्दुओं के देवताओं का एक एक करके नाम लेते थे। और कहते थे कि इनसे ईश्वर की एक एक शक्ति का प्रकाश होता है। (Sunday Mirror) (सनडे मिरर) नामी पत्र में उन्होंने इस विषय में इस प्रकार लिखा है :—

"Hindu idolatory is not altogether to be rejected or overlooked. As we explained some time ago, it represents millions of broken fragments of God. Collect them together, and you get the indivisible divinity. When Hindus lost sight of their great God, they contented themselves with retainning particular aspects of Him and representing them in human shapes or images.........The Theist rejects the image, but he cannot dispense with the spirit of which the image is the form. The revival of the spirit,

the destruction of the form, is the work of the new Dispensation.''

"हिन्दू मूर्तिपूजा सर्वथा त्याज्य या अनादरणीय नहीं है। जैसा हमने पहले कहा था यह ईश्वर के लखूखा भग्नशेषों का प्रतिरूप है। इन सबको जोड़ लो और अखण्डब्रह्म को पा जाओगे। जब हिन्दू अपने परम प्रभु को भूल गये तो उन्होंने उसके भिन्न भिन्न स्वरूपों (aspects) को रख लिया और उसको मनुष्यों की आकृति या मूर्तियों द्वारा पूजने लगे .. ..ब्रह्मसमाजी मूर्ति को त्याग देते हैं परन्तु उस भाव को नहीं त्यागता जिसकी वह मूर्ति प्रतिरूप है। नवविधान का उद्देश्य है कि भाव का पुनरुद्धार करे और रूप का विनाश करे"।

इस प्रकार के व्याख्यानों का जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ता था। परन्तु बहुत से बुद्धिमान समझने लगे थे कि केशव बाबू का ब्रह्मसमाज फिर पुराने हिन्दू धर्म में मिल जायगा।

केशवचन्द्र सेन ने अपने अनुयायियों के लिये "नव संहिता" अर्थात् नये शास्त्र की रचना आरम्भ की। इसके कुछ भाग न्यूडिस्पेंन्सेशन (New Dispensation) नामी पत्र में निकलते रहे। इसके शीर्षक या विषयों की सूची इस प्रकार है:— गृह और गृहप्रबन्ध। गृहस्थ के दैनिक कर्तव्य, चारपाई से उठना, दैनिक भोजन कार्य्य, मनोरंजन, स्वाध्याय, दान, पारिवारिक सम्बन्ध, सेवक, गृह-कृत्य, प्रतिज्ञायें, ब्रह्मचर्य, वैधव्य इत्यादि इत्यादि। इस शास्त्र में ब्रह्म समाजियों के दैनिक कर्तव्यों पर प्रकाश डाला गया है। उनका उद्देश्य यह था कि ब्रह्म-समाजियों के लिये एक शास्त्र रच दें जिस पर वह चल सकें।

८ जनवरी सन १८८४ ई० मंगलवार को ९ बजे प्रातःकाल श्री केशव चन्द्र सेन का देहान्त होगया। उनका जन्म १९ नवम्बर सन् १८३८ ई० को कलकत्ते में हुआ था। इस प्रकार उनकी आयु देहान्त के समय ४५ वर्ष से कुछ अधिक थी।

श्रीयुत् केशवचन्द्र सेन बहुत बड़े आदमी थे। उनकी शक्तियाँ विशाल थीं। उनमें मनुष्यों को खींचने की शक्ति थी। उन्होंने अपनी वक्तृताओं से भारतीय और अंगरेजों दोनों को चकित कर दिया था। उन्होंने बाल्यकाल से अन्तकाल तक अपना समय हिन्दुओं के सुधार में लगाया। वह नित्य ही आत्मत्याग और लग्न के साथ काम करते रहे। परन्तु इस चमत्कार-युक्त जीवन में हर एक बात की बड़ी कमी पाते हैं। वह यह कि उन्होंने श्रीयुत राजा राममोहनराय के आरम्भ किये हुये हिन्दू-धर्म-सुधार को किंचित भी आगे नहीं बढ़ाया। उनसे और महर्षि देवेन्द्रनाथ टागोर से इसी-

लिये भेद हुआ था कि केशव बाबू आगे बढ़ना चाहते थे और देवेन्द्र बाबू उनको रोकते थे। परन्तु जब केशव-बाबू स्वतंत्रता-पूर्वक आगे बढ़े तो लोगों ने उनको बड़े वेग से दौड़ते तो देखा परन्तु यह न जान सके कि वह किधर जा रहे हैं अथवा अपने साथियों को किधर ले जा रहे हैं। उन्होंने सब धर्मों के शास्त्रों को मिलाना चाहा परन्तु न मिला सके। उन्होंने वैदिक ऋषियों के ईश्वरीय ज्ञान को स्वीकार करने से इनकार किया परन्तु यह अनुभव करने लगे कि मुझे भी ईश्वर आदेश देता है। सारांश यह है कि केशव बाबू न केवल हमारे ही लिये किन्तु अपने भक्त साथियों के लिये भी एक रहस्यमय व्यक्ति थे। यदि वह भारतीय-ब्रह्मसमाज न खोलते और प्रार्थना समाजों के प्रवर्तक न होते तो हम उनको सन्तों की कोटि में रख कर उनका गुण-गान कर सकते थे। परन्तु उन्होंने आरम्भ से ही श्री राममोहनराय के काम को पूरा करने का बीड़ा उठाया। इसको कहाँ तक पूरा कर सके इसका निश्चय हम पाठकों के न्याय पर छोड़ते हैं।

[३]

जिस समय श्री केशव चन्द्र सेन ब्राह्मणसमाज में सम्मिलित होकर हिन्दू-धर्म के सुधार पर विचार कर रहे थे, उन्हीं दिनों में दयानन्द नाम का एक पैंतीस छत्तीस वर्षीय सन्यासी "सत्य की खोज" में इधर उधर भटक रहा था। राममोहन राय के समान उसको भी अल्पायु में मूर्तिपूजा से घृणा होगई थी। राममोहन ऐसे स्थान के रहने वाले थे जहां अंगरेजी शिक्षा ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध कुछ भाव वायु-मण्डल में प्रवेश कर दिये थे, परन्तु दयानन्द का जन्म ऐसे स्थान में हुआ था, जहाँ मूर्तिपूजा के विरोधियों का नाममात्र भी न था। उसने तो केवल शिव की मूर्ति पर चूहे को चढ़ते देख कर ही निश्चय कर लिया था कि जिस शिव ने जगत् की रचना की है वह इस मूर्ति के रूप में नहीं हो सकता। राममोहन राय की भांति दया-नन्द ने अल्पायु में कोई पुस्तक तो मूर्ति पूजा के विरुद्ध नहीं लिखी थी। परन्तु शङ्कामात्र ही पिता को रुष्ट करने के लिये पर्य्याप्त थी। राममोहनराय के समान दयानन्द को उनके पिता ने घर से निकाला नहीं परन्तु विवाह से बचने के लिये और सत्य की खोज करने के लिये उन्होंने स्वयं ही घर को त्याग दिया।

इस प्रकार राममोहन राय और दयानन्द के बीच में कुछ सादृश्य और कुछ भिन्नता अवश्य है, परन्तु दयानन्द में जल्दबाजी न थी। उसने मूर्तिपूजा पर शङ्का होते ही उसका खण्डन आरम्भ नहीं किया। उसको बाईस वर्ष सत्य की

खोज में ही लग गया। दरिद्र, निर्धन, वस्त्रहीन लँगोटबन्द दयानन्द गुरुओं की खोज में गंगा के तट पर और हिमालय की कन्दरा में भटकता रहा परन्तु सत्य का पता न लगा। अन्त में वह मथुरा आया और विरजानन्द नामी एक प्रज्ञाचक्षु सन्यासी से संस्कृत व्याकरण और वैदिक साहित्य पढ़ता रहा।

यह वह समय था जब २४ वर्षीय नववयस्क केशव बाबू ब्रह्मसमाज के आचार्य बन चुके थे और अपनी वक्तृता शक्ति से भारतवर्ष की राजधानी कलकत्ते में अपनी धाक बिठाल रहे थे।

स्वामी विरजानन्द आंख के अंधे थे। परन्तु उन्होंने स्वामी दयानन्द की आंखें खोल दीं। स्वामी दयानन्द को ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो वह लगभग ३८ वर्ष की अंध कोठरी की कैद से यकायक सूर्य के प्रकाश में लाये गये हों। उनके हृदय की गांठ खुल गई। उनके सब संशय दूर हो गये। जिस समय स्वामी दयानन्द अपने गुरु से बिदा होने लगे तो गुरु विरजानन्द ने उनसे आग्रह किया कि दयानन्द! वैदिक धर्म का प्रचार लुप्त हो गया तुम इसका पुनरुद्धार करो।

स्वामी दयानन्द ने व्रत किया कि ऐसा ही करूँगा, और धर्म-सुधार में लग गये। स्वामी दयानन्द ने अङ्गरेजी नहीं पढ़ी थी और अंगरेजी पढ़े लिखों के साथ भी नहीं रहे थे। उन्होंने केवल वैदिक साहित्य का स्वाध्याय किया था और अधिक समय योग-अभ्यास में लगाया था। कुछ दिनों ऐसी घोर तपस्या की थी कि शरीर पर दूसरा वस्त्र भी नहीं रखते थे। उन्होंने अपने स्वाध्याय, गुरु के उपदेश तथा अपने निज विचारों से यह निश्चय किया:—

(१) वेद ईश्वरीय ज्ञान है। अतः स्वतः प्रमाण हैं।

(२) उपनिषद् आदि वेद नहीं। परन्तु वेदों के अनुकूल होने से परतः प्रमाण हैं।

(३) पुराण तंत्र, आदि वेद विरुद्ध और त्याज्य ग्रन्थ हैं।

(४) मूर्तिपूजा वेद विरुद्ध परन्तु पुराणों से विदित है। इसलिये त्याज्य है।

(५) आजकल हिन्दूधर्म में बहुत गड़बड़ है। और मृतक श्राद्ध आदि बहुत सी वेद विरुद्ध बातें प्रचलित होगई हैं। इनको हटाना चाहिये।

(६) वर्ण चार हैं अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। परन्तु इनका आधार गुण, कर्म और स्वभाव है, जन्म नहीं। इसका अर्थ यह है कि वर्त्तमान जाति बिरादरी जो हिन्दुओं में पाई जाती है त्याज्य है। कोई ब्राह्मण इसलिये ब्राह्मण नहीं है कि वह ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुआ है। वर्ण मनुष्य को

पैतृक कमाई नहीं। किन्तु अपनी कमाई है।

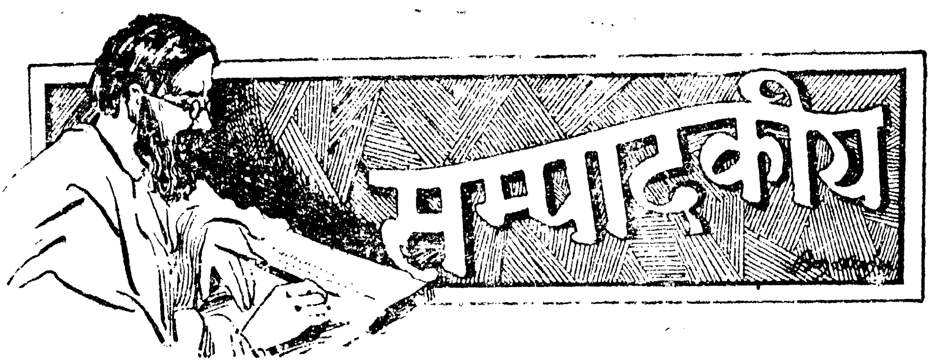
(७) बालविवाह सर्वथा वेद विरुद्ध है इसलिये त्याज्य है। स्त्री का १६ वर्ष से और पुरुष का २५ वर्ष से कम आयु में विवाह सर्वथा अवैदिक, अतः निषिद्ध है।

(८) बाल-विधवा-विवाह होना चाहिये क्योंकि वस्तुतः उसका विवाह बालकपन में होने के कारण अनुचित था।

बहुत से अंश में राजा राममोहन राय ने वही सोचा था जो स्वामी दयानन्द ने। श्रीयुत राममोहन जी भी मूर्तिपूजा को वेद विहित नहीं मानते थे और स्वामी दयानन्द भी। वेदों पर दोनों की श्रद्धा थी। परन्तु स्वामी दयानन्द पुराण और तन्त्र आदि हिन्दूधर्म के वर्तमान ग्रन्थों को वेद-विरुद्ध कह कर अप्रमाणिक कह देते थे। राय जी ने कोई ऐसा भेद नहीं किया था। स्वामी दयानन्द की बात उनके उद्देश्य के अधिक अनुकूल थी। जब लोग पुराण या तंत्र का राममोहन राय जी के सामने हवाला देते थे तो उनको व्याख्या करने में खींच तान करनी पड़ती थी। उनको कई स्थानों पर लिखना पड़ा कि यद्यपि मूर्ति-पूजा पुराण और तन्त्रों में है परन्तु अबोध और अज्ञानियों के लिये है। स्वामी दयानन्द तो पुराण और तन्त्रों को त्याग ही चुके थे। वह तो अज्ञानियों के लिये भी मूर्तिपूजा हानिकारक समझते थे। स्वामी दयानन्द कहते थे कि मूर्ति पूजा अज्ञानियोंकी चलाई हुई तो है परन्तु वह उनके लिये हितकर नहीं। वह उनके अज्ञान को बढ़ाती और मनुष्य जाति को ईश्वर पूजा से विमुख करती है। जब लोग स्वामी दयानन्द से कहते कि मूर्तिपूजा ईश्वर पूजा के लिये सोढ़ी है तो वह उत्तर देते, "नहीं, भाई, यह तो एक बड़ी खाई है"। वह पुराणों को विष-युक्त अन्नके तुल्य कहा करते थे और लोगों को उपदेश देते थे कि ऋषि-कृत ग्रन्थों को पढ़ो। पुराण तो गप्प-ग्रन्थ हैं। उन्होंने समझा था कि जब तक लोग पुराणों को पढ़ते रहेंगे और राम, कृष्ण आदि को ईश्वर का अवतार मानते रहेंगे उस समय तक मूर्तिपूजा मिट नहीं सकती। किसी वृक्ष को काटने के लिये उसको जड़ पर कुल्हाड़ा मारना चाहिये। यह बात केशवचन्द्र सेन के जीवन से प्रमाणित होती है क्योंकि केवल अवतारवाद पर विश्वास रखने के कारण केशव बाबू अन्त में मूर्तिपूजा के बहुत निकट आ गये थे। उनको कहना पड़ा था कि—

"Hindu idolotory is not altogether to be rejected or overlooked."

अर्थात् "हिन्दू मूर्तिपूजा सर्वथा त्याज्य या अनादरणीय नहीं है"।



नया वर्ष सुखदायी हो

विक्रम संवत् का एक पट और उठ गया। संवत् १९८७ हमसे विदा मांग रहा है। उसे विदा दे दो और नये वर्ष का हाथ पसार कर स्वागत करो। "आओ वर्ष! प्यारे वर्ष हम तुम्हारा स्वागत करते हैं। तुमको बुलाते हैं इसलिये कि हमारे लिये नई नई चीजें लाओ। वर्ष भर हम सुख से बितावें। भारतवर्ष में एक नया युग आवे। आर्य्य समाज का वृक्ष अच्छी तरह पुष्पित तथा पल्लवित हो।"

बीते हुए वर्ष! तुम खिन्न न हो, प्रसन्न वदन रहो। विदा होते समय मुख पर दुःख की झलक मत लाओ संसार का यही नियम है। जो आता है उसे जाना ही पड़ता है। पर जो हँसते हुये जाते हैं उनमें ईश्वरीय प्रकाश होता है। वह ईश्वरीय आभा लेकर जाते हैं। उनके मुख की हँसी सबको याद रहती है। हे विगत वर्ष! तुमको लोग याद रक्खेंगे और इतिहास भी तेरा गीत गायेगा।

शतपथ ब्राह्मण

शतपथ ब्राह्मण के भाष्य को पाठक बड़ी रुचि से पढ़ा करते हैं। हमारे अनेक प्रेमियों ने यह प्रार्थना की कि शतपथ ब्राह्मण की पृष्ठ संख्या अलग दी जावे। इसी विचार से नये वर्ष से हमने यह निश्चय किया है कि अन्तिम चार पेज में सदा भाष्य दिया जायगा और उसकी पृष्ठ संख्या क्रम भी अलग कर दिया है। जितने पृष्ठ इस समय तक भाष्य के निकल चुके हैं, उनके आगे की संख्या दी जा रही है।

शतपथ ब्राह्मण (सभाष्य)

काण्ड १—अध्याय २—ब्राह्मण ५

[१]

अनुवाद

१०—तदु तथा न कुर्यात। ओषधीनां वै स मूलान्युपाम्लोचत्तस्मादोषधीनामेव मूलान्युच्छेत्तवै ब्रूयाद्यन्न्वेवात्र विष्णुमन्वविन्दंस्तस्माद्वेदिर्नाम।

१०—परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिये। औषधियों के मूल में (विष्णु) छिपा था। इसलिये औषधियों की जड़ खोदनी चाहिये और चूंकि वहाँ उन्होंने विष्णु को पाया इसलिये उसको वेदि कहते हैं।

११—तमनुविद्योत्तरेण परिग्रहेण पर्यगृह्णन्। सुक्ष्मा चासिशिवा चासीति दक्षिणत इमामेवैतत्पृथिवीꣳ संविद्य सुक्ष्माꣳशिवामकुर्वत स्योना चासि सुषदा चासीति पश्चादिमामेवैतत् पृथिवीꣳ संविद्य स्योनाꣳ सुषदामकुर्वतोर्जस्वती चासि पयस्वती चेत्युत्तरत इमामेवैतत्पृथिवीꣳ संविद्य रसवतीमुपजीवनीयामकुर्वत।

११—उसको पाकर उन्होंने दूसरे। घेरे से घेर दिया। दक्षिण की ओर यह मंत्रांश पढ़ कर :—

सुक्ष्मा चासि शिवा चासि।

(यजु० १।२७)

"तू अच्छी भूमि है तू कल्याण कारक है।"

क्योंकि इस पृथ्वी को पाकर उन्होंने उसे उत्तम और कल्याण कारक बना दिया।

पश्चिम की ओर यह मंत्रांश पढ़ कर :—

"स्योना चासि सुषदा चासि।"

(यजु० १।२७)

"तू सुख देनेवाली और आनन्द से बसाने वाली है।"

क्योंकि इस पृथ्वी को पाकर उन्होंने उसे सुख देनेवाली और आनन्द से बसानेवाली बना लिया।

उत्तर की ओर यह मंत्रांश पढ़कर :—

ऊर्जस्वती चासि पयस्वती चासि।

(यजु० १।२७)

"तू अन्न वाली और जल वाली है।"

क्योंकि इस पृथ्वी को पाकर उन्होंने उसे जल वाला और जीविका वाला बना दिया।

१२—स वै त्रिः पूर्वं परिग्रहं परिगृह्णाति। त्रिरुत्तरं तत्षट् कृत्वः षड्वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावतमेवैतत्परिगृह्णाति।

१२—यह पहले तीन घेरे देता है। फिर तीन घेरे। इस प्रकार छः हो जाते हैं। वर्ष की ऋतुयें भी छः ही होती

हैं। वर्ष ही प्रजापति यज्ञ है। जितना बड़ा यज्ञ होता है और जितनी उसकी मात्रा होती है उतना ही वह घेरा बनाता है।

१३—षड् भिर्व्याहृतिभिः। पूर्वं परिग्रहं परिगृह्णाति षड् भिरुत्तरं तद् द्वादश कृत्वो द्वादश वै मासः संवत्सरस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावतमेवैतत्परिगृह्णाति।

१३—छः व्याहृतियों से पहला घेरा बनाता है। छः से दूसरा। इस प्रकार बारह व्याहृतियां हो गईं। वर्ष के महीने भी बारह होते हैं। वर्ष ही यज्ञ प्रजापति है। जितना बड़ा यज्ञ होता है और जितनी उसकी मात्रा होती है उतना ही वह घेरा बनाता है।

१४—व्याममात्री पश्चात्स्यादित्याहुः। एतावान्वै पुरुषः पुरुषसम्मिता हि्ययतिः प्राची त्रिरत्नि स्यादिति ... यज्ञो नात्र मात्रास्ति यावतीमेव स्वयम् मनसा मन्येत तावतीं कुर्यात्।

१४—ऐसा कहा गया है कि "पश्चिम की ओर की मात्रा व्याम के बराबर (दोनों भुजायें फैलाकर एक हाथ की उंगलियों से दूसरे हाथ की उंगलियों तक व्याम कहलाता है) हो। पुरुष इतना ही बड़ा होता है इसलिये पुरुष के बराबर यह होना चाहिये। पूर्व की ओर तीन हाथ होनी चाहिये क्योंकि यज्ञ के तीन भाग होते हैं।"

परन्तु इसकी मात्रा नियत नहीं है। जितनी मन में आवे उतनी करे।

१५—अभितोऽग्निमंसौ साऽउन्नयति। योषा वै वेदिर्वृषाग्निः परिगृह्य वै योषा वृषाणंशेते मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्मादभितोऽग्निमंसौ साऽउन्नयति।

१५—अग्नि के आस पास कन्धों को ऊंचा करता है। वेदि स्त्री लिङ्ग है। अग्नि पुलिङ्ग है। स्त्री पुरुष को पकड़कर सोती है। इस प्रकार प्रजनन (सन्तानोत्पत्ति) की जाती है। इसलिये अग्नि के आस पास कन्धों को ऊंचा करता है।

१६—सा वै पश्चाद्वरीयसी स्यात्। मध्ये संह्वारिता पुनः पुरस्तादुर्व्येवमिव हि योषां प्रशंसन्ति पृथुश्रोणिर्विमृष्टान्तरांसा मध्ये संग्राह्येति जुष्टामेवैनामेतद्देवेभ्यः करोति।

१६—वह (वेदि) पश्चिम को चौड़ी हो। बीच में तंग। फिर पूर्व की ओर चौड़ी। ऐसी ही स्त्री प्रशंसनीय समझी जाती है। श्रेणि के पास चौड़ी। कन्धों पर कुछ कम और बीच में कुछ तंग। इस प्रकार वह वेदि को देवों के लिये प्रिय बनाता है।

१७—सा वै प्राक्प्रवणा स्यात्। प्राचीहि देवानां दिगथोऽउदक्प्रवणोदीची हि मनुष्याणां दिग्दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहत्येषा वै दिक्पितॄणांसा यद्दक्षिणाप्रवणा स्यात् क्षिप्रे ह यजमानोऽमुं लोकमियात्तथो ह यजमानो ज्योग्जीवति तस्माद्दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहति पुरीषवतीं कुर्वीत पशवो वै पुरीषं पशुमतीमेवैनामेतत्कुरुते।

१७—यह पूर्व की ओर ढालू हो। क्योंकि पूर्व ही देवों की दिशा है। उत्तर

की ओर भी ढालू हो क्योंकि उत्तर मनुष्यों की दिशा है। दक्षिण की ओर पुरीश (गोबर) को हटा देता है। क्योंकि यह पितरों का दिशा है। अगर यह वेदि दक्षिण की ओर ढालू हो तो यजमान शीघ्र ही उस (पितृ) लोक को चला जाय इसलिये यथाविधि वेदि बनाकर यजमान बहुत दिनों जीता है। इसलिये दक्षिण की ओर गोबर को हटा देता है। इसको पुरीषवती (गोबर से लीपे) करे। पशु ही गोबर है। इस प्रकार इसको पशु युक्त बना देता है। (अर्थात् वेदि को गोबर से लीपना मानों पशुओं के आधिक्य का चिह्न है)।

१८—तां प्रतिमार्ष्टि । देवा ह वै सङ्ग्रामꣳ सन्निधास्यन्तस्ते होचुर्यदस्यै पृथिव्याऽअनामृतं देवयजनं तच्चन्द्रमसि निदधामहै स यदि नऽइतोऽसुरा जयेयुस्तत एवार्चन्तः श्राम्यन्तः पुनरभिभवेमेति स यदस्यै पृथिव्याऽअनामृतं देवयजनमासीत्तच्चन्द्रमसि न्यदधत तदेतच्चन्द्रमसि कृष्णं तस्मादाहुश्चन्द्रमस्यस्यै पृथिव्यै देवयजनमित्यपि ह वाऽअस्यैतस्मिन्देवयजनऽइष्टं भवति तस्माद्वै प्रतिमार्ष्टि ।

१८—अब वेदी को लीपता है। देवते जब युद्ध की तैय्यारी में लगे थे तब उन्होंने कहा "इस पृथ्वी का जो न नष्ट होने वाला और यज्ञ करने वाला भाग है उसे चन्द्रलोक को ले चलें। अगर हमको असुर जीत लेंगे तो फिर पूजा और श्रम करके हम उनको पराजित कर देंगे। इसलिये इस पृथ्वी पर जो न नष्ट होने वाला और यज्ञ करने वाला भाग था उसे वह चन्द्रलोक को ले गये। यही चांद में काला काला दीखता है। इसलिये कहते हैं कि "इस पृथ्वी के लिये पूजा का स्थान चन्द्रलोक में है"। इसी पूजा के स्थान में यज्ञ किया जाता है। इसीलिये वह उसे लीपता है।

१९—स प्रतिमार्ष्टि । पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्निति सङ्ग्रामो वै क्रूरꣳ सङ्ग्रामे हि क्रूरं क्रियते हतः पुरुषो हतोऽश्वः शेते पुरा ह्येतत्सङ्ग्रामान्यदधत तस्मादाह—पुरा क्रूरस्यविसृपो विरप्शिन्नित्युदादाय पृथिवीं जीवदानुमित्युदादाय हि यदस्यै पृथिव्यै जीवमासीत्तच्चन्द्रमसि न्यदधत तस्मादाहोदादाय पृथिवीं जीवदानुमिति यामैरयꣳश्चन्द्रमसि स्वधाभिरिति यां चन्द्रमसि ब्रह्मणादधुरित्येवैतदाह तामु धीरासोऽअनुदिश्य यजन्तऽइत्येतेनो ह तामनुदिश्य यजन्तेऽपि ह वाऽअस्यैतस्मिन्देवयजनऽइष्टं भवति य एवमेतद्वेद ।

१९—वह यह मंत्रांश पढ़ कर लीपता है :—

पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन् । (यजु० १।२८) "(विरप्शिन्) हे महापुरुष, इधर उधर चल कर घोर युद्ध के पहले ही"।

'क्रूर' नाम है युद्ध का क्योंकि युद्ध में क्रूर काम किया जाता है। और मरे हुये आदमी और घोड़े पड़े रहते हैं। चूंकि युद्ध से पहले ही उन्होंने (पृथ्वी के यज्ञ भाग को चन्द्रलोक को) हटा दिया था इसीलिये कहा है "हे महापुरुष, इधर उधर चल कर घोर युद्ध के पहले ही"।

अब कहता है।

उदादाय पृथिवीं जीवदानुम् ।

(यजु० १।२८)

"जीवन देने वाली पृथ्वी को उठा कर"। क्योंकि पृथ्वी में जो कुछ अमर था उसको उठाकर ही चन्द्रलोक को ले गये थे इसीलिये कहा "जीवन देने वाली पृथ्वी को उठा कर।

अब जपता है :—

यामैरयैश्चन्द्रमसि स्वधाभिः ।

(यजु० १।२८)

"जिसको स्वधाओं के साथ चन्द्र लोक ले गये"।

अर्थात् जिसको वे प्रार्थना (स्वाध्याय ब्रह्म) के साथ चन्द्रलोक में ले गये।

अब जपता है :—

तामु धीरा सो अनुदिश्य यजन्ते।

(यजु० १।२८)

"विद्वान् उसी की ओर संकेत करके यज्ञ करते हैं।

इस प्रकार वह उसी की ओर संकेत करके पूजा करते हैं। और जो इसको इस प्रकार जानता है उसका इसी यज्ञ के स्थान में यज्ञ होता है।

२० —अथाह प्रोक्षणीरासादयेति । वज्रो वै स्फ्यो ब्राह्मणश्चेमं पुरा यज्ञमभ्यजूगुपतां वज्रो वा आपस्तद्वज्रमेवैतदभिगुप्त्याऽआसादयति स वाऽउपर्युपर्येव प्रोक्षणीषु धार्यमाणास्वथ स्फ्यमुपच्छत्यथ यन्निहितेऽत्र स्फ्ये प्रोक्षणीरासादयेद्वज्रौ ह समृच्छेयातां तथो ह वज्रौ न समृच्छेते तस्मादुपर्युपर्येव प्रोक्षणीषु धार्यमाणास्वथ स्फ्यमुपच्छति ।

२० —अब जपता है:—

प्रोक्षणी रासादय (यजु० १।२८)

"प्रोक्षणी को रक्खो"।

अब तक वज्र, स्फ्या और ब्राह्मण ने इस यज्ञ की रक्षा की। जल भी वज्र है। इसलिये इस वज्र (प्रोक्षणी के जल) को रक्षा के लिये रखता है। प्रोक्षणी को ऊपर पकड़े पकड़े स्फ्या को लेता है। अब अगर प्रोक्षणी को नीचे रख दे जब कि स्फ्या पड़ी हुई हो तो दो वज्र एक दूसरे से लड़ जायंगे। यह दोनों वज्र परस्पर न लड़े इसलिये प्रोक्षणी को लिये ही स्फ्या को पकड़ता है।

पृष्ठ संख्या ३८२ मूल्य १॥)

अद्वैतवाद

लेखक

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०

लेखक ने कई वर्षों के उत्कट परिश्रम के बाद यह पुस्तक लिखी है। शंकर के अद्वैतवाद ने जनता पर जादू कर दिया है, परन्तु यह मत न तो वेदों के ही अनुकूल है और न युक्तियों से ही जँचता है। इसमें स्वप्न, माया, ईश्वरैक्यवाद, कारणैक्यवाद, वस्त्वैक्यवाद, सत्ता और एकीकरण, पर विद्वत्ता पूर्ण टिप्पणियां दी गई हैं। अन्त में वेद, तथा उपनिषदों से प्रमाण दिये गये हैं जिनसे अद्वैतवाद का खण्डन हो जाता है। अभी तक ऐसी महत्वपूर्ण पोथी दूसरी नहीं निकली। अवश्य मंगाइये।

मिलने का पता :—

कला प्रेस, प्रयाग।

Rgd. No. 2041

मत चूकिये ! फिर अवसर न मिलेगा !



२॥) की पुस्तक

केवल ।॥) में

आस्तिकवाद

लेखक

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०

इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ पर हिन्दी-साहित्य सम्मेलन ने लेखक को १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक दिया है।

दूसरा परिवर्द्धित संस्करण

१ मई १९३२ तक

मँगाने वालों को

केवल ।॥) में मिलेगा। कई पुस्तकें एक साथ रेल से मंगाने में व्यय कम पड़ेगा।

मिलने का पता :—

कला प्रेस, प्रयाग।

Printed & Published by Ganga Prasad (Editor) at the Kala Press.